महाभारत में निरूपित कृष्ण के राजनीतिक विचारों का अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

की

पी–एच०डी० (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
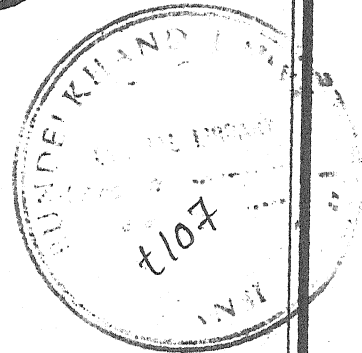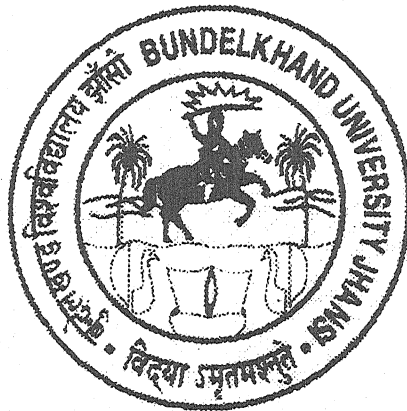
वर्ष-2003

शोध निदेशक :

डॉ० रमा शंकर उपाध्याय

एम०ए० (राजनीति विज्ञान), पी–एच०डी०

रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग

पं० जे०एन०पी०जी० कालेज, बाँदा (उ०प्र०)

अध्यक्ष-बुण्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ (BUTA)

अनुसंधित्सु :

दिनेश कुमार सिंह

एम०ए० (राजनीति विज्ञान)

डॉ० रमाशंकर उपाध्याय
एम.ए., पी.एच-डी.

अध्यक्ष
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ,
झांसी (उ०प्र०)

रीडर
राजनीतिशास्त्र विभाग
पं० जवाहरलाल नेहरू पी०जी० कॉलेज,
बाँदा (उ०प्र०)
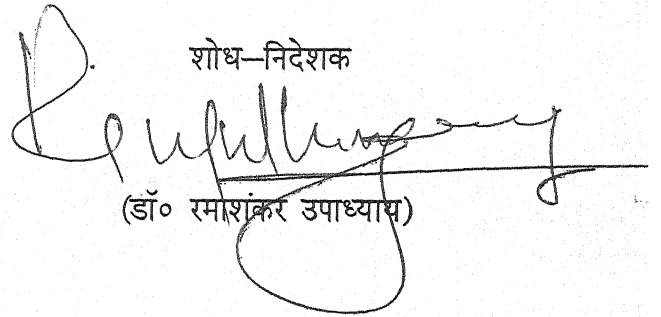
पत्रांक : ....

दिनांक : 08.12.2003

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि दिनेश कुमार सिंह, पी–एच०डी० (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु बुण्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के तत्वाधान में ''महाभारत में निरूपित कृष्ण के राजनीतिक विचारों का अध्ययन'' विषय पर मेरे निर्देशन में आपके पत्राङ्क बु०वि०/शोध/99-17034-36 दिनाङ्क 03-05-1999 को पंजीकृत हुआ था। इन्होंने मेरे निर्देशन में आर्डीनेन्स 7 द्वारा वांछित अवधि तक कार्य किया है।

मैं इनके शोध–प्रबन्ध को विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने एवं इसे परीक्षण हेतु प्रेषित करने की स्वीकृत/संस्तुति करता हूँ।

शोध–निदेशक

(डॉ० रमाशंकर उपाध्याय)

निवास : बी-236, आवास विकास कॉलोनी, बाँदा 210 001 (उ०प्र०) दूरभाष : का0 05192-24691, नि0221977
(221977)

घोषणा-पत्र

मैं दिनेश कुमार सिंह, यह घोषणा करता हूँ कि पी–एच०डी० (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु बुण्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के विचारार्थ प्रस्तुत ''महाभारत में निरूपित कृष्ण के राजनीतिक विचारों का अध्ययन'' शीर्षक पर यह शोध–प्रबन्ध मेरी मौलिक कृति है। शोध–प्रबन्ध में दिये गये तथ्य व तत्सम्बन्धी सामग्री मेरा अपना स्वयं का मौलिक कार्य है। कृति में उपलब्ध मार्गदर्शन एवं तत्सम्बन्धी सुझावों का उपयोग किया गया है, जिसका यथा स्थान उल्लेख किया गया हैं। मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध, अन्य व्यक्ति द्वारा इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का अंश नहीं है।

दिनाङ्क : 05/12/2003

अनुसंधित्सु

दिनेश कुमार सिंह

(दिनेश कुमार सिंह)

एम०ए० (राजनीति विज्ञान)

प्राक्कथन

महाभारत में निरूपित कृष्ण के राजनीतिक विचारों का अध्ययन नामक प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध विगत कई वर्षो की सतत् साधना का प्रतिफल है। प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के सन्दर्भ में डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का यह मत अनुकरणीय है कि हमें केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए ही इस विषय का अध्ययन नहीं करना चाहिए, वरन् उसकी ऐतिहासिक प्रासंगिकता पर भी समुचित ध्यान देना चाहिए।1 इस दृष्टि से महाभारत में व्यक्त कृष्ण के राजनीतिक विचार एक अछूता विषय है और प्रस्तुत प्रबन्ध इस अभाव की पूर्ति का एक लघु प्रयास मात्र है। वस्तुतः भारतीय राजशास्त्र सम्बन्धी विचारधारा का उद्गम स्रोत वेद है। अपने उद्गम स्थान से निकलकर यह धारा सहस्त्रों वर्ष तक प्रवाहित रही है। कालान्तर में यह अवरुद्ध होकर भारतीय जनता की दासता रूपी मरुभूमि में विलीन हो गयी। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से भारतीय पुनः जागरण के साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीति पर प्रामाणिक शोध-कार्य की परम्परा शुरू हुई है और वर्तमान काल में विधा-विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में और अधिक गहन, चिन्तन-मनन की महती आवश्यकता है।

मेरे जीवन से जुड़ी घटनायें प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विषय चयन में निर्णायक रही है। बाल्यकाल से ही बाँदा जनपद की विभिन्न नाट्य संस्थाओं में कृष्ण की भूमिका के अभिनय ने छात्रकाल में कृष्ण-चरित्र के प्रति अदम्य आकर्षण उत्पन्न कर दिया। कालान्तर में नियत का प्रवाह मुझे मायानगरी (Film-Industry) में अभिनय के क्षेत्र में ले गया, जहाँ संयोगवश मुझे **Iskcon** के तत्वाधान में कृष्ण के चरित्र को अभिनीत करने का सुअवसर मिला। चलचित्र के परदे पर कृष्ण के चरित्र को वास्तविक रूप में अभिनीत करने हेतु मेरे निर्देशक ने मुझे कृष्ण से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें पढ़ने के लिये प्रेरित किया।

इसी क्रम में मेरे अन्तर्तम के राजनीतिशास्त्री में कृष्ण के राजनीतिक विचारों को गहराई से समझने की जिज्ञासा हुई, और उसका प्रतिफल प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के रूप में आपके सम्मुख है।

मेरा विश्वास है कि आज की संक्रान्ति-कालीन परिस्थितियों तथा मानव जाति के सम्मुख उपस्थित चुनौतीपूर्ण समस्याओं के वातावरण में कृष्ण का समत्वयोग एवं उनके द्वारा प्रतिपादित स्थित प्रज्ञ व्यक्ति की जीवन-दृष्टि दिशा-निर्देश करने में सहायक होगी।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जहाँ तक सम्भव बन सका है, मैंने उपलब्ध सामग्री को एकत्र कर एवं संजोकर कृष्ण के राजनीतिक विचारों को सुस्पष्ट व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, विवेचनात्मक और विश्लेष्णात्मक बनाने का प्रयत्न किया हैं। प्रमाण स्वरूप श्लोक भी उद्‌धृत किये हैं ताकि कृष्ण द्वारा व्यक्त विचारों को अधिक यथार्थ एवं शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया जा सके। प्रायः सभी अध्यायों में कृष्ण के मत की तुलना मानवधर्म शास्त्र, कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, कामन्दकीयनीतिसार, शुक्र-नीतिसार, याज्ञवल्क्य स्मृति, बृहस्पतिस्मृति आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों से की है। कृष्ण के राजनीतिक विचारों के प्रस्तुत अध्ययन को ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ ही आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है तथा यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि उनके विचार विभिन्न आधुनिक राजनीतिक विचारध ाराओं के उद्‌गम स्रोत हैं।

वस्तुतः प्रत्येक समाज के अपने आधारभूत मूल्य होते हैं जिन्हें वह पवित्र धरोहर के रूप में अपने उत्तराधिकारी समाज को सौंपता हैं और यह मूल्य उस समाज की आधुनिकीकारण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। भारत के सन्दर्भ में यह परम्परागत राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि हैं जिनके प्रकाश में प्राचीन भारतीय राजदर्शन के शोधकार्य की अत्यधिक उपयोगिता है।

इस प्रबन्ध की पूर्णता में अपने ख्यातिलब्ध विद्वान निर्देशक डॉ० रमाशंकर उपाध्याय रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, पं० जवाहर लाल नेहरू पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बाँदा (उ०प्र०) एवं सम्प्रति अध्यक्ष, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ (BUTA) के प्रति आभार व्यक्त करना मेरी शब्द क्षमता से परे है। जिन्होंने अमूल्य निर्देशन, गवेषणात्मक दृष्टि और पग-पग पर अपने सन्तुलित विचारों से इस

प्रबन्ध को स्थान-स्थान पर परिष्कृत किया है। उनके परामर्श एवं अविस्मरणीय सहयोग के बिना तथा निरन्तर स्नेहपूर्ण-प्रेरणा के अभाव में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का पूरा हो पाना असम्भव ही था।

मुझे शोध-कार्य में ISKCON (International Society of Krishna conciousness), शंकर नारायण डिग्री कालेज, मुम्बई, महाराष्ट्र, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, ओरियेण्टल इन्स्टीट्यूट आफ फिलासफी, वृन्दावन, छत्रपति साहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, किशोरी रमण महाविद्यालय, मथुरा, पं० जवाहरलाल नेहरू पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बाँदा, अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज अतर्रा, ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, गीता प्रेस गोरखपुर से जो सामग्री और सहायता प्राप्त हुई हे इसके लिए मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों कर्मचारियों का भी अनुग्रहीत हूँ।

मैं अपने महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० नन्दलाल शुक्ल के प्रति भी आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होने कृपापूर्ण सहयोग और अपने परिमार्जित विचारों से मुझको अवगत किया। मैं अपने पूज्य पिता श्री चतुर सिंह 'एडवोकेट' को भी नमन करता हूँ, जिन्होंने शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन किया और कृष्ण के राजनीतिक एवं विधिक विचारों को समझने में मुझे नई दृष्टि दी। मैं श्री राधाकृष्ण बुन्देली 'प्रकाण्ड इतिहासकार' व बाँदा, डॉ० हरीशचन्द्र निगम 'पूर्व विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, अतर्रा पो०ग्रे० कालेज) का भी आभारी हूँ, जिन्होने इस कार्य में सदैव मुझे प्रेरित किया व अतुलनीय सहयोग दिया। मैं अपने लघु भ्राता श्री राकेश सिंह का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होने अपने विचारों से दर्शन की गूढ़ गुत्थियों को सुलझाने में मेरी सहायता की।

इसी क्रम में मैं श्री रामानन्द सागर एण्ड संस (फिल्म व टीवी सीरियल निर्देशक), श्री इकबाल दुर्रानी (पटकथा, संवाद लेखक व निर्देशक), श्री अभिषेक चडढ़ा (फिल्म कलाकार व निर्देशक), श्रीं वरुण गौतम (पटकथा, संवाद लेखक), चेतन माथुर (फिल्म-टी०वी० निर्देशक), श्री मुकेश चन्द्र (फिल्म डिवीजन, मुम्बई) के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूँ क्योंकि इन सभी महानुभावों का कृपापूर्ण सहयोग व उत्सहवर्धन मेरी प्रेरणा की प्रमुख श्रोत रहा।

अन्त में मैं अपनी धर्मपत्नी चाँदनी सिंह 'एम०ए०' का भी कृतज्ञ हूँ। जिन्होने पारिवारिक

कार्यों के भार का वहन करते हुये भी समय निकालकर इस कार्य में मेरी सहायता कर अर्धांगिनी का पूरा उत्तरदायित्व निभाया।

मैं अपने इस शोध के टंकणकर्ता श्री प्रशान्त सिंह एवं श्री मनोहर सिंह **'एडवोकेट'** संचालक, महेश्वरी प्रेस, बाँदा को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होने टंकण कार्य में पर्याप्त उत्साह का परिचय देकर टंकण लिपि शुद्ध करने में मेरी मदद की।

दिनेश कुमार सिंह

दिनाङ्क : अगस्त, 2003

दिनेश कुमार सिंह
एम०ए० (राजनीति शास्त्र)

'माधव सदन'
केन रोड, क्योटरा, बाँदा
पिन. 210001 (उ०प्र०)

विषय - सूची

॥ प्रस्तावना ॥

अध्याय प्रथम

॥ प्रस्तावना ॥

महाभारत संसार का सबसे बड़ा काव्य : भारतीय राजनीति का वेद-

महाभारत विश्व के अमूल्य ग्रन्थों में से एक है। यह भारतीय साहित्य का ही नहीं, विश्व साहित्य का एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता और लोकप्रियता आदि को दृष्टि से वह विश्व-साहित्य में अद्वितीय है।[1] वस्तुतः महाभारत भारतीय ज्ञान का 'विश्वकोष' है। इसमें अतीत का महान भारत भरा पड़ा है। इसके पृष्ठों को उलटते ही प्राचीन भारतीय समाज, धर्म, दर्शन, विश्वास, परम्परा तथा धारणाओं का चित्र समक्ष उपस्थित हो जाता है। अति पूर्व से प्रचलित भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता ने एक दीर्घकालीन अवधि में जितनी करवटें ली हैं, उनका जिन आयामों में विस्तार हुआ है, उन सबका अधिकतम समावेश महाभारत में हुआ है। दीर्घकालीन अनुभूतियों का चित्रण होने से जीवन का शायद ही कोई अंग अछूता रह गया हो।[2] अतः भारतीय जन-जीवन की प्राचीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय परम्पराओं तथा विचारधाराओं को समझने एवं अध्ययन करने के लिये उपयुक्त सामग्री मिलती है और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में इससे आज भी प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।[3] प्रो० बार्नेट ने प्राचीन भारत की आत्मा तथा संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिए महाभारत का अध्ययन अपरिहार्य माना है।[4]

---

1. *डॉ० शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पृष्ठ 33।*
2. *डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र : महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनायें। (प्रस्तावना, पृष्ठ 11)*
3. *डॉ० सुमेघा विद्यालंकार : महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 11*
4. *"................" the study of the mahabharata is indispensible for those who would learn to understand the spirit and culture of ancient India."*
   The Mahabharata.............anolysis and Index. P. IX

भारतीय जनश्रुति में महाभारत पंचम वेद कहलाता है। महाभारत के विषयों की व्यापकता और जनता में उसके आदर एवं उपयोग के कारण उसे पंचम वेद मानना नितान्त उचित है।[1] विषयवस्तु की महत्ता व आकार की विशालता के कारण इसे महाभारत कहा जाता है।[2] मैकडोनल के मतानुसार इस रूप में महाभारत ग्रीक के 'इलियड' और 'औडेसे' दोनों काव्यों को मिलाकर आकार में उनके आठ गुने बराबर है, और इस प्रकार वह संसार का सबसे बड़ा महाकाव्य है।[3] इसके विशाल आकार की तुलना में लैटिन कवि वर्जिल का 'एनीड' नामक महाकाव्य जो लगभग 10,000 पक्तियों का है, एक छोटी कविता के सदृश जान पड़ता है।[4] इस ग्रन्थ की विशालता के कारण ही व्यास जी के लिए इसके लेखन की समस्या उपस्थित हुई थी।[5] अतः गणेश सदृशः लेखक होने पर भी महाभारत की रचना में तीन वर्ष लगे।[6] इसकी व्यापकता के कारण इस महाग्रन्थ के अध्येताओं ने यह उक्ति प्रचलित की है कि जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है।[7] स्वतः इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि जो यहाँ है, वहीं अन्यत्र मिलेगा, और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।[8]

भारतीय जनता के लिए जो भी ज्ञान, शिक्षा आदि अपेक्षित है, वह सब महाभारत में मिल जाती है। महाभारत की महत्ता के प्रमाण स्वयं इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं। शौनक मुनि के यज्ञ में महाभारत सुनाने वाले सौति ने इसको सर्वोत्तम ज्ञान से परिपूर्ण उत्तम इतिहास बताया है। महाभारत के आरम्भ में सौति ने कहा है कि यह महाभारत तीनों लोकों में एक महान ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है। उन्हीं के शब्दों में महाभारत सूर्य, चन्द्रमा और दीपक के समान प्रकाशमान है। अज्ञान के तिमिर से अन्धे लोगों के लिए यह ज्ञानांजन की शलाका के समान आँख खोलने वाला है।[9]

---

1. *ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर : वरदाचारी, पृष्ठ 49।*
2. *महत्वाद भारतवर्त्वाच्च महाभारत मुच्यते 1-आदि पर्व, अध्याय 1, श्लोक 273।*
3. *मैकडोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 284।*
4. *चैनिंग आरनोल्ड : महाभारत -प्रिफेस पृष्ठ 8*
5. *यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादतम्।*
   परं न लेखक : कश्चिदैतस्य भुवि विद्यते।। आदि पर्व अध्याय - 1 : श्लोक 70।
6. *आदि पर्व : अध्याय 1, श्लोक 60।*
7. *स्वर्गारोहण पर्व : अध्याय 5, श्लोक 48, आदि पर्व : अध्याय 62, श्लोक 52।*
8. *आदि पर्व अध्याय - 1 : श्लोक 27।*
9. *आदि पर्व अध्याय - 1 : श्लोक 84।*

महाभारत सूर्य के समान अन्धकार को नष्ट करने वाला है।[1] यह महाभारत पूर्ण चन्द्रमा के समान है, जिससे श्रुतियों की चाँदनी छिटकती है और मनुष्यों की बुद्धिरूपी कुमुदनी विकसित हो जाती है।[2] यह महाभारत एक प्रज्जवलित दीपक के समान हैं, यह मोह का अन्धकार मिटाकर लोगों के अन्तःकरण को भलीभाँति ज्ञानालोक से प्रकाशित करता है।[3] सौति के शब्दों में जिस प्रकार दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण वेदों में उपनिषद्, औषधियों में अमृत, सरोवरों में समुद्र और चतुष्पदों में गाय सबसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार इतिहासों में महाभारत सबसे श्रेष्ठ है।[4] महाभारत में कुरुओं का प्रक्षित चरित्र और श्रीकृष्ण का पवित्र चरित्र वर्णित है।[5] महाभारत के अंग्रेजी में संक्षिप्त पद्यानुवादक श्री रमेशचन्द्र दत्त ने महाभारत को एशिया की प्रतिभा का सबसे महान ग्रन्थ माना है।[6] महाभारत के महान विद्वान डा० वी०एस० सुकथनकर ने इस ग्रन्थ को भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान ग्रन्थ कहा है, जिसे भारतीय परम्परा ने अपार श्रम के द्वारा लगभग दो हजार वर्षों से सुरक्षित रखा है। यह भारतीय परम्परा के सर्वोत्तम आदर्शों का भण्डार है।[7]

वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में प्रो० डनिंग ने प्राचीन आर्यों को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में अक्षम माना था।[8] मैक्समूलर एवं व्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन भारतीय मनीषियों का लक्ष्य मात्र आध्यात्मक चिन्तन, मनन एवं मोक्ष प्राप्ति था। इतिहास, राजनीति, राष्ट्र-धर्म और अर्थशास्त्र पर उनकी दृष्टि नहीं गयी।[9] पार्जीटर के मतानुसार प्राचीन भारतीयों ने कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं लिखे हैं।[10]

---

1. *धमार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तिनैः। तथा भारतसूर्येण नृणां विनीहतं तमः।। आ०प०ःअ01/85*
2. *आदि पर्व अध्याय - 1 : श्लोक 86।*
3. *इतिहास प्रदीपेन मोहावरणघातिना। लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम्।। आ०प०ःअ01/87*
4. *आदि पर्व अध्याय - 1 : श्लोक 765, 766।*
5. *आदि पर्व अध्याय - 1 : अ0 62 2 लो0 30-33।*
6. *डॉ0 सुकथनकर : मींनिग आफ महाभारत, पृष्ठ 41।*
7. *डॉ0 सुकथनकर : मींनिग आफ महाभारत, पृष्ठ 28, 30।*
8. *Prof. W. A. Dunning : A history of political theories : Ancient and Mediaeval-Intro, p XIX, Pwf.*
9. *मैक्समूर : ए हिस्ट्री आफ एशियन संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ : 16*
10. *एफ.ई. पाटीजर : एन्शियन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ : 2*

मैकडोनल का मत है कि इतिहास भारतीय साहित्य की एक कमजोरी है। ऐतिहासिक बोध के अभाव के कारण संस्कृत साहित्य के इतिहास में सही कालक्रम नहीं मिलता है।[1] डॉ० शकुन्तला रानी तिवारी का मत है कि पश्चिमी विद्वानों की मुख्य आपत्ति इतिहास के कालक्रम को लेकर है। कालक्रम और घटनायें ये इतिहास के दो मुख्य तत्व हैं। प्राचीन भारत के इतिहास में कालक्रम के सम्बन्ध में कुछ कठिनाई अवश्य है, इसका एक कारण तो भारतीय इतिहास और साहित्य की प्राचीनता है। विक्रम संवत् से पूर्व का कोई संवत् भी संसार में नहीं मिलता है। दूसरे कालक्रम की अपेक्षा प्राचीन भारतीयों का ध्यान घटनाओं तथा इनसे लक्षित होने वाले जीवन के सत्यों की ओर अधिक रहा। घटनाओं में कुछ कल्पना की अतिरंजना तथा कुछ अलौकिकता का पुट अवश्य है फिर भी प्राचीन इतिहास में विशेषतः महाभारत में प्राचीन घटनाओं का बहुत कुछ यथार्थ रूप मिलता है। घटनाओं के इस रूप को इतिहास ही कहा जायेगा। इसी आधार पर महाभारत को इतिहास मानना उचित है।[2] स्वयं महाभारत में अनेक स्थलों पर इसको इतिहास कहा गया है।[3] अर्वाचीन देशों के इतिहास की स्थिति से एक प्राचीन देश की तुलना करना उचित नहीं है। प्राचीनता के अतिरिक्त ग्रीस, असीरिया, मिस्र आदि की तुलना में भारत वर्ष की विशालता और इतिहास की विपुलता भी इस कठिनाई को बढ़ाती है। पश्चिमी देशों के लौकिक और बर्हिमुख दृष्टिकोण अध्यात्मिक और आंतरिक रहा है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण में ऐतहासिक वृत्त शाश्वत अर्थ के वाहक बन जाते हैं। रामायण और महाभारत के वृत्त यथार्थ होते हुए भी शाश्वत भावों के वाहक बन गये हैं। इतिहास के इस रूप में काल का महत्व बहुत कम हो जाता है। इसी कारण प्राचीन भारतीय इतिहास में कालक्रम का महत्व बहुत कम हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों के रचयिताओं ने भी अपने नाम, स्थान, समय आदि लौकिक तथ्यों को ध्यान नहीं दिया है। उनका यह दृष्टिकोण भी आध यात्मिक प्रभाव को प्रमाणित करता है।[4]

---

1. *मैकडोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 10।*
2. *डॉ0 शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पृष्ठ 44।*
3. *आदि पर्व, अध्याय 62, श्लोक 20।* *आदि पर्व, अध्याय 2, श्लोक 39।*
   आदि पर्व, अध्याय 1, श्लोक 54। *आदि पर्व, अध्याय 2, श्लोक 284।*
   आदि पर्व, अध्याय 1, श्लोक 86।
4. *डॉ0 शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पृष्ठ 62।*

प्राचीन वृत्त के अर्थ में इतिहास की भारतीय परम्परा बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, आदि प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास शब्द का उल्लेख मिलता है।[1] वैदिक यज्ञों के अवसर पर इतिहास की कथायें कही जाती थीं। महाभारत से ही विदित होता है कि जनमेजय के सर्पयज्ञ में वैशम्पायन ने तथा शौनक के द्वादश वर्षीय सत्र में उग्रश्रवा सौति ने महाभारत सुनाया था। महाभारत में इतिहास की जो परिभाषा मिलती है, उसमें भी कथावृत्त तथा उसके आध्यात्मिक प्रयोजन का ही महत्व माना गया है।[2] इतिहास के आध्यात्मिक प्रयोजन के कारण ही उसमें धर्मशास्त्र के तत्वों का समावेश हो गया है। इसी दृष्टिकोण के कारण हमारे प्राचीन इतिहास काव्यमय हैं। रामायण और महाभारत के इतिहास काव्यमय हैं। इन्हें इतिहास के साथ-साथ महाकाव्य भी माना जाता है। वस्तुतः इनमें काव्य के अनेक गुण विद्यमान हैं, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि देश की प्राचीन राजनैतिक स्थिति पर धर्म का कलेवर चढ़ा हुआ था। यद्यपि ऐसा विश्वास अनैतिहासिक है।[3] क्योंकि भारतीय जनता राजनैतिक प्रयोगों से न तो अनभिज्ञ थी और न ही उदासीन।[4] भारत के प्राचीन निवासियों ने जहाँ धर्म, दार्शनिक चिन्तन और अध्यात्मवद् के विकास पर विशेष ध्यान दिया था, वहाँ उन्होंने संसार की एहलौकिक उन्नति की भी उपेक्षा नहीं की थी। उनकी सम्मति में धर्म का प्रयोजन जहाँ निश्श्रेयस की प्राप्ति था, वहाँ साथ ही सांसारिक अभ्युदय भी था।[5]

महाभारत के शान्तिपर्व के राजधर्म विषयक प्रकरण का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय, राजनीतिशास्त्र से भली प्रकार परिचित थे। ऐसी सम्भावना है कि महाभारत, रामायण, मनु एवं कौटिल्य के विचारों में स्वीकृत राजनीतिक मान्यतायें बहुत पहले जनता में विचारवद्ध हो चुकी थी।

---

1. *विन्टरनिट्ज : द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 313।*
2. *नलिन विमोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास दर्शन, पृष्ठ 2*
3. *शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 172।*
4. *हनुमान प्रसाद पोद्दार : महा0 सभापर्व, पृष्ठ 65।*
5. *'यतोऽभ्युदय निश्श्रेयस सिद्धिः स धर्मः' योगशास्त्र।*

महाभारत के युद्ध की घटना और महाभारत के ग्रन्थ की रचना के तिथि-काल का निर्णय यद्यपि कितना ही कठिन अथवा अनिश्चयपूर्ण हो किन्तु प्राचीन तथ्यों और घटनाओं की दृष्टि से महाभारत की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।[1] वरदाचारी ने महाभारत की इस यथार्थता की सराहना की है।[2] काल-निर्णय सम्बन्धी कठिनाई से महाभारत का यह ऐतिहासिक महत्व कम नहीं होता। मूल कथा के अतिरिक्त मिलने वाली अन्य कथायें महाभारत की ऐतिहासिकता और इसके ऐतिहासिक महत्व को बढ़ाती हैं। मूल कथा के समान इनसे भी भारत की प्राचीन काल की स्थिति विषयक अनेक तत्कालीन समसामयिक बातें ज्ञात होती हैं। प्राचीन भारत की परिस्थितियों का बोध कराना महाभारत की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक देन है। इतिहास की घटनाओं से मनुष्य को शिक्षा मिलती है। इस शिक्षा के दृष्टिकोण से महाभारत का महत्व अत्यधिक हो जाता है।

पारस्परिक फूट और आन्तरिक कलह के वर्तमान भारतीय वातावरण में महाभारत का यह गृहयुद्ध भावी भारतीय जनता के लिये अपनी एकता, अखण्डता और स्वतंत्रता की रक्षा की प्रेरणा हेतु महान सन्देश देता है।

महाभारत का रचनाकाल :-

विश्व के इस विशालतम ग्रन्थ का नाम महाभारत तथा रचयिता का नाम पराशर्य कृष्ण द्विपायन व्यास माना जाता है। इतने विशाल आकार के एवं विभिन्न विषयों से परिपूर्ण इस ग्रन्थ की रचना एक ही व्यक्ति ने की या इसके कई रचयिता हुये- इस विषय को लेकर विद्वानों में मत-भिन्नता पायी जाती है। एस लाख श्लोकों के विशाल आकार के ग्रन्थ को एक ही व्यक्ति की रचना मानने में आधुनिक विद्वान संकोच करते हैं।[3] महाभारत की सामग्री की विविधता के आधार पर भी विद्वान महाभारत में कई प्रकार की रचनात्मक परम्पराओं का सम्मिश्रण समझते हैं।[4]

---

1. *डॉ0 शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पृष्ठ 53।*
2. *वरदाचारी : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 53।*
3. *विन्टरनिट्ज : द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 326, 462।*
4. *डॉ0 शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पृष्ठ 71।*

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार महाभारत किसी एक व्यक्ति और एक काल की रचना नहीं है।[1] उनके अनुसार अनेक शताब्दियों में कई व्यक्तियों के द्वारा तथा अनेक प्रकार की सामग्री के संयोग से महाभारत का वर्तमान स्वरूप निर्धारित हुआ है।[2]

पश्चिमी विद्वानों में दाल्हमान और लैवी महाभारत को एक ही व्यक्ति की रचना मानते हैं।[3] भारतीय परम्परा के विद्वानों में पण्डित इन्द्रनारायण द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्पूर्ण महाभारत वेदव्यास की ही रचना है तथा उसके तीन संस्करण नहीं हुए। उनके अनुसार जय, भारत और महाभारत, महाभारत के तीन संस्करणों के नाम नहीं वरन् उसके तीन पर्यायवाची नाम हैं। उनके अनुसार चौबीस हजार की श्लोक संख्या उपाख्यानों से रहित महाभारत की है। तथा छियत्तर हजार श्लोकों में उपाख्यान हैं।[4]

महाभारत के अन्तःसाक्ष्य एवं वर्णनों से विदित होता है कि महाभारत संग्राम के बाद व्यास मुनि ने अपने शिष्य वैशम्पादन को महाभारत सुनाया जिसका उद्देश्य कौरवों पर पाण्डवों की विजय का बोध कराना था। सम्भवतः तब उसका नाम 'जय' था। इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या ८८०० मानी जाती है। 'जय' ग्रन्थ का नाम महाभारत के प्रारम्भ में ही मंगलाचरण श्लोक में दिया गया है।[5] तथा अन्यत्र भी इसके उल्लेख हैं।[6] कुछ समय के पश्चात वैशम्पायन ने अपने लिखे संवाद जोड़कर जनमेजय के नागयज्ञ के अवसर पर महाभारत सुनाया। तब इसका नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ और इसके श्लोकों की संख्या चौबीस हजार हो गयी। अन्त में यह कथानक लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सौति ने नैमिषारण्य में सोनक ऋषि के द्वादश वर्षीय सत्र में सुनाया, जिसमें वहाँ पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी शामिल हुए। इससे इसके श्लोकों की संख्या बढ़कर एक लाख हो गयी एवं इसका नाम महाभारत प्रसिद्ध हुआ।

---

1. *विन्टरनिट्ज : द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1 पृष्ठ 326।*
2. *विन्टरनिट्ज : द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1 पृष्ठ 316।*
3. *विन्टरनिट्ज : द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1 पृष्ठ 459।*
4. *गीता प्रेस का महाभारत वर्ष 3 संख्या 11, 110*
5. *नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।*
   देवीं सरस्वती व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।। (मंगलाचरण श्लोक, महाभारत)
6. *'जय' नामोतियोऽहम्, पं० बल्देव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 93।*

ईसा की पूर्व शताब्दियों में महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है।[1] ईसा की पहली शताब्दी के मध्य में दक्षिण आने वाले डायोक्रिस्टोम नामक यात्री ने लिखा है कि उसके समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत जिसे उसने भारत का इलियड कहा है, प्रसिद्ध एवं प्रचलित था।[2] किन्तु आधुनिक विद्वान इसको महाभारत की शतसाहस्त्री संहिता का प्रमाण नहीं मानते। इन विद्वानों का मत विकासवादी है। उनके अनुसार अनेक व्यक्तियों, कई संस्करणों और विभिन्न प्रक्षेपों के द्वारा महाभारत की शतसाहस्त्री संहिता का रूप निर्धारित हुआ है।[3] ईसा की पाँचवी शताब्दी पूर्व के दान पात्रों में एक लाख श्लोकों के महाभारत का उल्लेख मिलता है।[4] इससे प्रतीत होता है कि लगभग दो हजार वर्ष से एक लाख श्लाकों का महाभारत प्रचलित है। आश्वलायन गृहयसूत्र में महाभारत के अस्तित्व का सर्वप्रथम उल्लेख मिला है।[5] आश्वलायन गृहयसूत्र का समय ईसवीं संवत् से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व माना जाता है[6] और आश्वलायन गृहयसूत्र से पहले उपलब्ध किसी साहित्य में महाभारत के नाम का वर्णन नहीं मिलता है। अतः पाश्चात्य विद्वान महाभारत की रचना का समय पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं।

बौंधायन के गृहयसूत्र में भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप में उद्धत किया गया है[7] जबकि गीता महाभारत का ही एक अंग है। आश्वलायन एवं बौधायन गृहयसूत्र का समय ईसवी संवत् से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व माना जाता है।[8] इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत रचना की प्राचीनतम अवधि ई०पूर्व पाँचवी शदाब्दी है।

होल्समान आदि कुछ जर्मन विद्वानों का अनुमान है जो अविश्वसनीय प्रतीत होता है कि महाभारत का आधुनिक रूप ईसा की नवम् व दशम् शताब्दी के मध्य हुआ होगा।

---

1. *मैकडोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 290।*
2. *चिन्तामणि विनायक वैद्य : महाभारत मीमांसा, पृष्ठ 43।*
3. *विन्टरनिट्ज : ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 316।*
4. *मैकडोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 289।*
5. *सुमन्तु - जैमिनि - वैशम्पायन - पैल - सूत्र भाष्य, आश्वलायन गृह्य सूत्र, अध्याय 3, खण्ड 4*
6. *मैकडोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 287।*
7. *गीता 9 - 26*
8. *विन्टरनिट्ज : ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 471।*
   मैकडोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 287।

जर्मन विद्वान विन्टरनिट्ज इस अनुमान से सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनका मत है कि साहित्यिक उल्लेखों और शिला-लेखों के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व महाभारत नाम का ग्रन्थ विद्यमान था।[1]

हॉपकिन्स महोदय ने वाह्य साक्ष्यों तथा महाभारत के पद्य के आधार पर इस ग्रन्थ का काल निर्धारित किया है। उनका विचार है कि महाभारत को अन्तिम रूप चार सौ ईसवीं तक मिल चुका था।[2]

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल महाभारत का रचनाकाल पाँच सौ वर्ष ई० पूर्व मानते हैं।[3] श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य के मतानुसार महाभारत का मूल रूप 350-320 ई०पूर्व में स्वीकार हो चुका था और वही वर्तमान रूप है।[4]

भारतीय परम्परा में महाभारत के युद्ध का समय द्वापर युग का अन्त और कलियुग का आरम्भ माना जाता है। भारतीय ज्योतिष की गणना के अनुसार कलियुग के आरम्भ का समय ईसा से इकत्तीस सौ दो वर्ष पूर्व माना जाता है। पं० इन्द्रनारायण द्विवेदी ने बड़े विस्तार के साथ महाभारत के युद्ध और कलियुग के आरम्भ के काल का निर्णय बड़े विस्तुत विवेचन के साथ किया है।[5] पश्चिमी विद्वान भारतीय ज्योतिष की इस गणना को आदर नहीं देते। युगों की भारतीय कल्पना तथा महाभारत का युगों के साथ सम्बन्ध उन्हें काल्पनिक और अमान्य प्रतीत होता है।[6] भारत की संस्कृति और उसका साहित्य बहुत प्राचीन है अतः भारतीयों की रुचि अपने ग्रन्थों का समय अधिक प्राचीन मानने की ओर रहती है। यूरोप की संस्कृति और इतिहास अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अतः भारतीय संस्कृति और इतिहास की प्राचीनता के प्रति उनका उचित आदर नहीं है।

---

1. *विन्टरनिट्ज : द हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 463।*
   मैकडोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 289।
2. *ई० जे० रैपसन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग 1, पृष्ठ 258।*
3. *अम्बिका प्रसाद बाजपेयी - हिन्दू राजतन्त्र, पृष्ठ 6।*
4. *चिन्तामणि विनायक वैद्य - महाभारत मीमांसा, पृष्ठ 307।*
5. *गीता प्रेस का महाभारत वर्ष-3, संख्या 11, पृष्ठ 135।*
6. *विन्टरनिट्ज - ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, पृष्ठ 474।*

वे भारतीय ग्रन्थों का समय यथासम्भव ईसवी सन् के आरम्भ के निकट रखने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में कालगणना का कोई निश्चित आधार न होने का कारण भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों की प्राचीनता प्रमाणित करने का पर्याप्त साधन नहीं मिलता। इस संदेह की स्थिति में उनको भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों का समय ईसा के अधिक से अधिक निकट रखने का अवसर मिलता है। अनिश्चिय की अवस्था में प्राचीन ग्रन्थों और व्यक्तियों के सम्भाव्य काल की अवाचीन सीमा के निर्धारित की दृष्टि से उनका यह दृष्टिकोण ठीक है। किन्तु दूसरी ओर यह दृष्टिकोण भारत के प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में एक अनुचित धारणा का पोषण करता है। भारत के जिन प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में काल-निध ारित के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं है उनकी प्राचीनता की आस्था को आधुनिक और वैज्ञानिक मानदण्डों के अनुरोध के द्वारा खण्डित करना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य बहुत विशाल है तथा उसके अनेक रूप हैं। इतने विस्तृत और विशाल साहित्य का निर्माण और विकास इतने प्राचीन काल में बहुत समय में हुआ होगा। आधुनिक मानदण्डों से इस विकास की गति की कल्पना नहीं की जा सकती। वैज्ञानिक दृष्टि से केवल बुद्ध का समय निश्चित है। उसके पूर्व कम से कम शताब्दियों का अन्तर मानकर महाभारत, पुराण, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण, वेद आदि के समय का अनुमान लगाया जाता है। कालक्रम की अर्वाचीन सीमा का निर्णय तो ठीक माना जा सकता है किन्तु इससे प्राचीन ग्रन्थों से वास्तविक काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, वरन् इसके विपरीत उनकी प्राचीनता आच्छादित हो जाती है। इस अर्वाचीन अवधि के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास के आधुनिक काल निर्णय उतने ही संदिग्ध हैं, जितना संदिग्ध कि विश्वासी जनों की तत्सम्बन्धी आस्था को माना जाता है। प्राचीन भारत के ग्रन्थों और व्यक्तियों की अर्वाचीन अवधि के वैज्ञानिक निर्धारण ने काल-निर्णय के सम्बन्ध में स्वयं अनिश्चित होते हुए भी भारतीय इतिहास के तथ्यों की प्राचीनता को बहुत आघात पहुँचाया है, यह प्राचीन भारतीय इतिहास और उसके अध्ययन की एक आधुनिक विडम्बना है।

महाभारत के तीन नामों और तीन वक्तताओं तथा विषयों की विभिन्नता के आधार पर महाभारत के परिवर्तन आदि के सम्बन्ध में जो मत उपस्थित किये गये हैं, वे केवल

सम्भावनाओं का संकेत करते हैं, उन्हें पूर्णतः प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। यह भारतीय विद्या की विडम्बना है कि संदिग्ध अभिमतों को भी सिद्ध प्रमाणों का पद मिलता है और संदिग्ध सम्भावनायें भारतीय परम्पराओं की पवित्रता एवं प्राचीनता को खण्डित करने के लिये पर्याप्त मानी जाती हैं।

विश्व के महापुरुषों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि प्रत्येक महापुरुष में कोई-न-कोई वैशिष्ट्य अवश्य रहा है। उनमें कोई धर्म संस्कारक है तो कोई स्वराज्य-स्प्रष्टा, कोई परम निःस्पृह परिव्राट है तो कोई विलक्षण राजनीतिज्ञ, परन्तु कोई ऐसा महामानव दृष्टिगोचर नहीं होता जिसमें इन विभिन्न आदर्शों की एक-साथ परिणति हुयी हो। भारत में द्वापर और कलयुग की सन्धि-बेला में जन्म लेने वाले अकेले कृष्ण ही ऐसे पुरुष हैं जिनमें लोकादर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा अपने चरम उत्कर्ष पर दिखाई देती है। राजनीति और समाजनीति, धर्म और दर्शन, सभी क्षेत्रों में कृष्ण की अद्भुत मेधा एवं विकसित प्रतिभा के दर्शन होते हैं। एक ओर वे महान् राजनीतिज्ञ, क्रान्ति-विधाता, तथा धर्म पर आधृत नवीन साम्राज्य के स्रष्टा के रूप में दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर धर्म, अध्यात्म तथा दर्शन के सूक्ष्म चिन्तक एवं विवेचक के रूप में। उनके समय में भारत गांधार से लेकर सह्याद्रि पर्वतमाला तक क्षत्रिय राजाओं के छोटे-छोटे स्वतंत्र किन्तु निरंकुश राज्यों में विभक्त हो चुका था। इन्हें एकता के सूत्र में पिरोकर समग्र राष्ट्र को एक सुदृढ़ शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत लाने वाला कोई नहीं था। एक चक्रवर्ती सम्राट के न होने से विभिन्न माण्डलिक राजा नितान्त स्वेच्छाचारी, तथा प्रजापीड़क हो गये थे। मथुरा का कंस, मगध का जरासंध, चेदि देश का शिशुपाल तथा हस्तिनापुर का दुर्योधन, सभी दुष्ट, विलासी तथा दुराचारी थे। कृष्ण ने अपनी अद्भुत चातुरी, नीतिमत्ता तथा कूटनीतिज्ञता से इन सभी अनाचारियों का मूलोच्छेद किया तथा युधिष्ठिर के रूप में धर्मराज एवं अजात-शत्रु का विरुद धारण करने-वाले एक आदर्श राजा का अखण्ड चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य स्थापित किया।

महाप्राज्ञ व्यास ने -

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयी भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।

कहकर जिस योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ के साथ श्री, विजय और अचल विभूति एवं नीति का अविनाभाव सम्बन्ध जोड़ा, वे मध्यकालीन पुराणकारों, साम्प्रदायिक

आग्रह सम्पन्न लेखकों और कवियों के हाथों में पडकर 'चौराग्रगण्य पुरुष' बन गये। जहाँ कृष्ण है वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है वहाँ जय है' इस उक्ति को विस्मृत कर भारतवासियों ने नाना प्रकार के दोषारोपण कर कृष्ण चरित्र को विकृत कर दिया। संस्कृत और हिन्दी के कवियों, पुराण लेखकों तथा धर्मकारों ने उनके चरित्र पर मनमाने आक्षेप और आरोप लगाये। फलतः उनके अमल-धवल चरित्र की पावन मन्दाकिनी में अनेक-अनेक अपावन एवं कलुषित धारायें ऐसी भी आ मिली, जिनसे कृष्ण का चरित्र छल-छिद्र पूर्ण, मर्यादाहीन तथा गर्हित बन गया। कृष्ण के चरित्र को पौराणिक शैली में वर्णन करने वाले 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' ने तो राध ा-कृष्ण के प्रसंगों को अतिरंजनापूर्ण एवं वासनोत्तेजक ढंग से चित्रित किया है, उसका उल्लेख भी शिष्टाचार के प्रतिकूल माना जा सकता है।[1]

'गोपाल सहस्त्र नाम' ने भगवन-कीर्तन के व्याज से कृष्ण को अधोलिखित विशेषणों से सम्बोधित किया है-

"गोपालः कामिनी-जारः चौर जार शिखामणिः"

बाल की खाल निकालने वाले नैयायिकों ने भी अपने ग्रन्थों के मंगलाचरण में गोप-वधूटियों के वस्त्रों को चुराने वाले कृष्ण का ही स्मरण किया।[2] आज काव्य और संगीत में 'साँवरिया' और 'बनवारी' जैसे शब्द जो लम्पट नायक के लिये सामान्यतया प्रयुक्त होते हैं, उनका कारण भी यही है।

जयदेव ने संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली में राधा-कृष्ण के जिस परकीया-भाव के प्रेम का चित्रण किया, उससे प्रेरणा लेकर मैथिल-कोकिल विद्यापति तथा बंगला-कवि चण्डीदास ने राधा-माधव की केलिक्रीड़ा के नाम पर उद्दाम श्रृंगार की जो धारा प्रवाहित की, उससे समग्र पूर्वी भारत वासना-पंक से आप्लावित हो गया। मध्यदेश मे रसिक कवि सूरदास ने बल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुये भी, जिसमें कृष्ण के बाल-स्वरूप की उपासना का ही विधान है, राधा-कृष्ण के प्रेम की जो व्यंजना की वह जयदेव और विद्यापति की तुलना में अधि क सुरुचि-सम्पन्न भले ही हो, परन्तु उनकी यह ब्रजभाषा-पदावली भी उद्दाम श्रृंगार से सर्वथा मुक्त ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के परवर्ती कवियों को तो राधा-कृष्ण के नाम

---

1. *डॉ० भवानी लाल भारतीय : ब्रह्मवैवर्तपुराण : एक समीक्षा*
2. *नूतन जलधर रुचये गोपवधूटीदुकूल चौराय ।*
   तस्मै कृष्णाय नमः संसार महीरुहस्य बीजाय ।।
   विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य रचित 'कारिकावली' का मंगलाचरण

पर स्वच्छन्दता प्रदर्शित करने का पूर्ण अवसर ही मिल गया। तभी हो हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों के लिये कृष्ण एक सामान्य रसिक-नायक की भावभूमि पर उतर आये और विलास-लीलाओं के चित्रण में कुशल इन श्रृंगारी प्रवृत्ति के कवियों के लिये उनके चरित्र से खिलवाड़ करना अत्यन्त सहज हो गया। रीतिकाल के आचार्य कहे जाने वाले कवि भिखारीदास के शब्दों में-

"आगे के कवि समुझिहैं तो कविताई,
न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

इस प्रकार भक्ति की झीनी आड़ में राधा-कृष्ण की विलास-केलि का नग्न चित्रण करना कवियों का नित्यप्रति का कार्य रह गया। कृष्ण-चरित्र में समाविष्ट होने वाली इस मलिन धारा कृष्ण के लोकसंग्रही रूप को तो लुप्त किया ही, उसे सर्वथा वासना-पंकिल भी बना दिया। कृष्ण के विषय में एक और भ्रान्ति है जिसने लोगों के मस्तिष्क में जड़ जमा रखी है और जिसके कारण लोग कृष्ण को प्रवंचक, कपटी, युद्ध-लिप्सु और महाभारत के भीषण नरसंहार का मूल कारण समझने की भयंकर भूल कर बैठे हैं। इस भ्रान्ति का कारण 'महाभारत' की घटनाओं को प्रकारणानुकूल न समझना ही है। कृष्ण की शान्ति प्रियता, उनकी विश्व-बंधुत्व की भावना तथा युद्ध के प्रति उनका सहज विराग-भाव लोगों से विस्मृत हो चुका है। उन्हें यह पता नहीं कि कृष्ण युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करते थे, अपितु किसी अपरिहार्य परिस्थिति में वे उसे समस्याओं के समाधान के अन्तिम साधन के रूप में भी तभी स्वीकार करते थे, जबकि समझौते के सभी अन्य साधन अकृत-कार्य हो जाये। कृष्ण के लोक -पावन तथा जनमंगल-विधायक चरित्र को दूषित करने का यह निकृष्ट प्रयास है कि उन्हें ध ूर्तताभरी चालों वाला कपटाचारी और कूटनीतिज्ञ समझा जाये। इन्हीं भ्रममूलक धारणाओं के कारण आज कृष्ण का वास्तविक स्वरूप अंककारवृत हो रहा है और हम उसकी कल्याणकारी प्रवृत्तियों को हृदयंगम करने में असमर्थ हो रहे हैं।

निष्कर्ष-रूप में कृष्ण का वास्तविक रूप वही है जो भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास की लेखनी से प्रसूत होकर 'महाभारत' में लेखबद्ध हुआ है तथा अन्य पुराणादि ग्रन्थों में कृष्ण के स्वरूप को विकृत करने की जो चेष्टायें हुई हैं उन्हें सर्वथा निर्मूल एवं निराधार ही माना जाना चाहिये। वस्तुतः कृष्ण आर्य मर्यादाओं के संरक्षक, संयमी, उदात्त-चरित्रयुक्त और महान सत्व-संपन्न मानव थे। सहस्त्रों वर्षों से विस्मृत कृष्ण के ओजस्वी, तेजपूर्ण और क्षमताशील राजनीतिक विचारों को प्रकाश में लाना मेरे इस शोध-प्रबन्ध का लघु प्रयास है।

।। कृष्ण के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत की परिस्थितियाँ ।।

अध्याय द्वितीय

।। कृष्ण के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत की परिस्थितियाँ ।।

राजनीतिक परिस्थिति :

भारत का राजनीतिक वातावरण उसके इतिहास की अनेक करवटों के साथ रूप बदलता रहा है। कृष्ण के प्रादुर्भाव होने के पूर्व देश की राजनीति में नाना प्रकार के प्रयोग किये जा चुके थे। उस समय वर्तमान की भांति सम्पूर्ण भारत एक राजनीतिक इकाई के रूप में न होकर छोटे-बड़े अनेक राज्यों में विभक्त था।[1] राजाओं की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों, गण एवं संघ राज्यों की आन्तरिक दलबन्दी तथा विभिन्न व्यवस्थित और अव्यवस्थित राजनैतिक इकाईयों का एक साथ अद्‌भुद संगम दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण के जन्म से पूर्व भारत का राजनैतिक मानचित्र शासन पद्धतियों की विविधताओं से परिपूर्ण व राजनैतिक संगठन के अभाव से ग्रसित था। देश में एक केन्द्रीय राजनैतिक संगठन का पूर्ण लोप था। विभिन्न राजनैतिक इकाईयां पारस्परिक सहयोग अथवा विरोध के वातावरण में थी। उल्लेखनीय है कि तत्कालीन स्थिति में कुछ शक्तिशाली राजवंशों जैसे पांचालों, पौरवों तथा यादवों की देश की राजनीति पर गहरी छाप थी।[2]

---

1. *डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत हिन्दूकाल : पृ० 66।*
   आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : भारत में पंचायती राज : पृ० 71-72।
   रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : पृ० 181।
2. *धर्मयुग, गीता जयन्ती अंक 14 दिसम्बर, 1975। पृ० 6-7।*
   डॉ० आर०सी० मजूमदार, सम्पादक : दि हिस्ट्री ऑफ एण्ड कल्चरल ऑफ दि इण्डियन पीपुल (दि वैजिक ऐज) (खण्ड एक) : पृ० 298।

कृष्ण के जन्म से पहले विदर्भ, अवन्ती, कौशल, मगध, कुरु, पांचाल, महिष्मति अंग, दरशाणा, करुशा, कलिंग, चेदी, विदेह, काशी, कम्बोज, मत्स, मादरा, प्रागयज्योतिष, निषाद, सीबी तथा कैकेया आदि कुछ प्रमुख राज्य थे। व्यास और यमुना नदी के ऊपर की घाटी में शिवलिंग पर्वत माला के साथ-साथ कुणिन्दों का राज्य था। रावी और सतलज नदियों के बीच वर्तमान जालंधर सम्भाग का क्षेत्र त्रिगर्त कहा जाता था। योधेय गणराज्य लुधियाना, अम्बाला, करनाल, रोहतक, हिसार जनपदों में सतलज और यमुना नदी के मध्यवर्ती प्रदेश में फैला हुआ था। इनके अतिरिक्त भोज, कुकर, अन्धक, मालव, योधेय, त्रगर्त, औधुम्बर, आग्रेय, क्षुदक, बसती, प्रस्थल आदि अनेकों गणराज्य तथा संघ राज्य भी थे।[1]

गान्धार राज्य सिन्धु के दोनों तटों तक विस्तारित कैकय नामक पहाड़ियों के इर्द-गिर्द गान्धार एवं विपासा व्यास नदी के बीच बसा था।[2] मद्रो का राज्य मध्य पंजाब में स्यालकोट और उसके आसपास के जनपदों में स्थापित था।[3] मस्त्य राज्य का विस्तार अलवर, जयपुर, भरतपुर तक था। मत्स्य राज्य दिल्ली के कुरु राज्य के दक्षिण तथ मथुरा के सूरसेन राज्य के पश्चिम में था। यह राज्य दक्षिण में चम्बल तक पश्चिम में सरस्वती नदी तक फैला हुआ था। अलवर शाल्व के अधिकार में था। भोजवंश विदर्भ तथा दक्षिण में भी फैला था तथा दण्डक में भी उसका अधिकार था।[4] चेदी राज्य यमुना के समीप तक था। चम्बल के पास मत्स्य राज्य से भी इसका सम्बन्ध था। यह राज्य यमुना के दक्षिणी किनारे पर चम्बल तथा केन के बीच आधुनिक बुन्देलखण्ड के समीपवर्ती क्षेत्र में फैला हुआ था।[5]

उत्तर पांचाल, सुदाश के काल में एक शक्तिशाली राज्य था। उससे पौरव शासक सम्वर्ण को पराजित कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था। लेकिन उसके उत्तराधिकारी सहदेव और सोमका के काल में राज्य का अधःपतन होता गया। द्विमिधा के राजा उग्रयुद्ध ने उत्तर पांचाल के शासक को मार कर उसके राज्य को जीत लिया था। उत्तर पांचाल

---

1. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास : पृ0 33।*
2. *भगवत शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास : पृ0 51।*
3. *भगवत शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास : पृ0 52।*
4. *डा0 हेमचन्द्र राय चौधरी : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास : पृ0 81।*
   एस0 एन0 मजूमदार (सम्पादक) : कर्निंघमस एन्सिएन्ट ज्याग्राफी ऑफ इण्डिया : पृ0 725।
5. *एन0 एल0 डे0 : ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शिएन्ट एण्ड मैडीवल इण्डिया (द्वितीय भाग) पृ0 48।*

के वैध शासक प्रश्ता को दक्षिण पांचाल के कम्पिला में शरणलेनी पड़ी। उग्रयुद्ध नेपौरवों पर भी आक्रमण किया परन्तु भीष्म ने उसे पराजित करके हत्या कर दी तथा प्रश्ता को अहिक्षत्र का पैतृक राज्य प्रदान कर दिया।[1]

पांचाल शासक सुदाश से पराजित होकर पौरव शासक सम्वर्ण ने सिन्धु में शरण ली। वशिष्ठ की सहायता से उसने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया।[2] उसका उत्तराधिकारी कुरू अत्यधिक प्रसिद्ध शासक हुआ।[3] उसका साम्राज्य प्रयाग तक फैला हुआ था तथा दक्षिण पांचाल भी उसके अधीन थी।[4] कुरु के उत्तराधिकारी जहनु का उल्लेख बहुत मिलता है। जहनु के पुत्र सूरथ से ही मुख्य कुरु शाखा का विकास होता है। इसी में प्रतीप नामक शक्तिशाली राजा हुए जिनके देवपी, वाहलिका और शांतनु तीन पुत्र थे। शांतनु के ही भीष्म, चित्रागंदा और विचित्र वीर्य हुये। विचित्रवीर्य के धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दो पुत्र उत्पन्न हुये थे।[5]

सुधवन के चौथे उत्तराधिकारी वसु ने चेदी में यादवों का साम्राज्य विजित कर एक नये वंश की नींव रखी। उसकी राजधानी सुकमती थी तथा उसने अपने साम्राज्य को मगध और मत्स्य में सम्मिलित कर लिया था। उसने अपने साम्राज्य को अपने पांचों पुत्रो में विभाजित कर दिया था। मगध ब्रहदरथ को, कुश को कौशाम्बी, यदु को करूशा, प्रत्याग्रह को ने चेदी तथा अंतिम पुत्र को मत्स्य प्राप्त हुये। ब्रहदरथ ने गिरिब्रज को अपनी राजधानी बनाया। जरासंघ उसके उत्तराधिकारियों में अत्यधिक शक्तिशाली था प्रभावपूर्ण शासक हुआ। उसने मथुरा तक अपने राज्य की सीमाओं को विस्तारित किया और वहां के शासक कंस से अपनी पुत्री का विवाह किया।[6]

कुरु के कनिष्ठ पुत्र सुघनवन के उत्तराधिकारी ने चेदी और मगध में स्थापित हो गये थे।

---

1. *गोविन्द कृष्ण पिल्ले : ट्रेडीशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (ए डाइजेस्ट), पृ0 119-120।*
2. *महाभारत (भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना) : खण्ड 1, पृ0 8-9, 31-43।*
3. *एफ0 ई0 पार्जीटर : एन्शियन्ट हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृ0 76, 281।*
4. *डा0 आर0 सी0 मजूमदार : एन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 71।*
5. *डॉ0 आर0 सी0 मजूमदार (सम्पादक) : दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल (दि वैदिक ऐज) पृ0 298 एवं 299।*
6. *डॉ0 आर0 सी0 मजूमदार (सम्पादक) : दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल (दि वैदिक ऐज) पृ0 300 एवं 301।*

दक्षिण पांचाल के शासकों में ब्रहादत्त एक महत्वपूर्ण शासकथा। ब्रह्मदत के उत्तराधिकारियों में जन्मजेय दुर्बुध्दि अंतिम शासक था, जिसने द्विमिधा के उग्रयुद्ध का अंत कर दिया था।

कुरु राज्य में आधुनिक थानेश्वर दिल्ली तथा ऊपरी गंगा दोआब का क्षेत्र सम्मिलित था।[1] उत्तरी पांचाल जो अहिक्षेत्र कहलाता था, उत्तर प्रदेश के आधुनिक रुहेलखण्ड क्षेत्र में निहित था जिसकी अहिक्षत्र थी जो आधुनिक रामनगर मानी जा सकती है।[2] दक्षिण पांचाल जो प्राचीन कान्यकुब्ज राज्य के क्षेत्र को समाहित किये था उसमें आगरा तथा कानपुर के जनपद भी सम्मिलित थे जिनकी राजधानियां माकंदी तथा कम्पिला फतेहगढ़ से 28 मील दूर आधुनिक कामिल थी।[3] महाभारत के अनुसार कुरु राज्य की सीमा सरस्वती से गंगा तक विस्तारित थी। दिग्विजय पर्व में कुरु राज्य की सीमा कुलिन्द की सीमा से सूरसेन और मत्स्य तक अर्थात (सतलज और गंगा यमुना के उद्गम के समीप से मथुरा तक पूर्वी पंजाब से रूहेलखण्ड तक) फैला था। सम्पूर्ण राज्य तीन मांगों में कुरु जंगल, कुरु खास, कुरुक्षेत्र में विभाजित था।[4] पांचालों के पास बरेली, बदायूं, फर्रूखाबाद तथा संयुक्त प्रांतों के निकटवर्ती जनपद थे।[5]

यादवों का विशाल राज्य भीम सतवत के अधीन था जिसे उसने अपने चार पुत्रों-भजमन, देववृहद, अन्धक तथा वृष्णि में विभक्त कर दिया। देववृहद पश्चिमी मालवा के परनासा नदी तक सम्बन्धित था। उसके उत्तराधिकारी मरती कावत के भोज थे जो आबू पर्वत के निकट सात्व देश में स्थापित थे। अंधक मथुरा का शासक था। उसके चार पुत्र थे लेकिन कुकुरा और मजमन ही महत्वपूर्ण हुये। कुकुरा के वंश में ही कंस उत्तराधिकारी हुआ जिसने काशी भी जीत लिया था।[6]

भजमन के उत्तराधिकारी अंधक कहलाये जो मथुरा के निकट कहीं स्थापित थे।

---

1. *लोकमान्य गंगाधर तिलक : श्रीमद्भगवतगीता रहस्य : पृ0 611।*
2. *एन0 एल0 डे0 : ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शिएन्ट एण्ड मैडीवल इंडिया (द्वितीय भाग) पृ02*
3. *एन0एल0डे0 : ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शिएन्ट एण्ड मैडीवल इंडिया (द्वितीय भाग)पृ0 88।*
4. *डा0 हेमचन्द्र राय चौधरी : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास : पृ0 21-22।*
5. *डॉ0 आर0 सी0 मजूमदार, दत्ता व राय चौधरी : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 42।*
6. *पौल मैसन, औरसेल, हेलेन डी विलमैन : एन्शियन्ट इण्डिया एण्ड इण्डियन सिविलाइजेशन : पृ0 25।*

इसी शाखा में हिदिका का पुत्र कृत वर्मा हुआ। वृष्णि के चार पुत्रों में अन्नमित्रा प्रसिद्ध हुआ। उससे निधन और प्रसेन तथा सत्रादि हुये। इसी शाखा के देवमिघणा का पुत्र सूर था जिनके दस पुत्र और पांच पुत्रियां हुई। वासुदेव सबसे बड़े थे। कुकुरा के राजा देवका की पुत्री से वसुदेव का विवाह हुआ। अन्नमित्रा के उत्तराधिकारियों में सत्यकी ओर युयुधन उत्पन्न हुये। कुकुराओं में आहुक हुये जिनके पुत्र उग्रसेन थे। उग्रसेन के नौ पुत्र और पांच पुत्रियां हुई।[1] कृष्ण और बलराम वसुदेव और देवकी के ही पुत्र थे।[2]

अंगपर कुछ समय के लिये कर्ण ने राज्य किया। अयोध्या में कुश के उत्तराधिकारी वृहदबाल का शासन था जिसे कर्ण ने अपने आधीन कर लिया था।

इस तरह भारत अनेक लघु राजनीतिक इकाईयों में विभक्त था। तत्कालीन शासकों का उद्देश्य साम्राज्य विस्तार था तथा अन्य राजाओं को अपने आधीन करना था। महत्वाकांक्षी शक्तिशाली सम्राट विजित राज्यों और उनके राजाओं का मूलोच्छेदन नहीं करते थे वरन् अधीनस्थ रूप में उनकी पृथक सत्ता स्थापित रहती थी।[3] इसलिये सम्पूर्ण देश में सैकड़ों स्वतंत्र राज्य, गणराज्य संघ राज्य एक साथ अस्तित्व में रहे।

समस्त भारत में समान राजनीतिक व्यवस्था नहीं थी। शासन के भिन्न-भिन्न स्वरूप विद्यमान थे।[4] अधिकांश राज्य ऐसे थे जिन्हें राजतंत्रात्मक राज्य की संज्ञा दी जा सकती थी। उनमें राजा वंशानुगत होता था।[5] राजतंत्रात्मक राज्यों में भी शासन की पद्धति समान नहीं थी। कहीं पर जनता का शासन में बहुत अधिक प्रभाव था तो कहीं ऐसे भी राज्य थे जिनमें राजा स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश होता था। कहीं राजा परिषद की सहायता से शासन संचालन

---

1. *डॉ० आर० सी० मजूमदार (सम्पादक) : दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल (दि वैदिक ऐज) पृ० 300 एवं 301।*
2. *मुन्शी : ग्लोरी वेट वाज गूर्जर देश : खण्ड 1 : पृ० 120-124।*
3. *डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास पृ० 121।*
   राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ० 171।
   राय बहादुर जी : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ० 295।
4. *डॉ० रघुवीर शास्त्री : महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था, पृ० 16।*
   डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र : महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनायें, पृ० 52।
5. *डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत हिन्दूकाल : पृ० 66।*
   डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र : महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनायें, पृ० 53।

करता था तथा परिषद के सदस्य भी राजा कहलाते थे।[1] शक्तिशाली राजाओं ने सम्राट, एकराट, अधिराट जैसी उपाधियां धारण करनी प्रारंभ कर दी थीं।[2] जिन राज्यों में राजा वंशानुगत नहीं होता था उन्हें गणराज्य या संघ राज्य कहा जाता थां अतः राजा नामक पद से जनतंत्रीय और राजतंत्रीय राज्यों में भेद नहीं था क्योकि दोनों प्रकार के शासनों में राज्य का प्रधान राजा होता था। यथार्थ में दोनो में भेद राजपद के अभिषेक, राजा के कार्यकाल मंत्री परिषद या मंत्रिमंडल के संदर्भ में ही किया जा सकता है।[3]

ध्यातव्य है कि कृष्ण के जन्म से पूर्व राजा की जिस स्थिति का उल्लेख है वह जनतंत्रीय तथा राजतंत्रीय दोनों प्रकार के राजाओं परचरितार्थ होती है। यद्यपि राजा वंशानुगत होता था और राजतंत्र में उसके व्यापक अधिकार थे तथापि वह स्वच्छन्द नहीं था।[4] उसके अभिषेक के समय लगाये गये बंधन, उसका अपने कार्य संपादन के लिये मंत्रिपरिषद पर निर्भर होना और सभा तथा समितियों की संस्थायें आदि अनेक बातें उसके अधिकार को सीमित कर चुकी थीं। उसे यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि हे पृथ्वी मैं तेरी रक्षा करूंगा पर तू मेरी रक्षा कर, यदि मैं प्रतिज्ञा भंग करुंग तो मेरे धार्मिक अनुष्ठान, दान, सत्कर्म, स्थान, जीवन, तथा संतान तक का सत्य जाता रहे।[5] राजतंत्र के राजा को जब तक राजा नहीं माना जाता था जब तक कि समकालिक अन्य राजागण उसे राजा होने की मान्यता न प्रदान कर देते। जिस राजा को उसके समकालीन अन्य राजाओं द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होती थी वह राजा नहीं हो सकता था।

मंत्री परिषद का भी राजा पर अत्यधिक प्रभाव होता था।[6] राजा अपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर रहता था जितना प्राणी मात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेद पर, और स्त्रियां अपने पति पर।[7] सभा समितियां राजा के न केवन राजनीतिक क्षेत्र मे अपितु व्यक्तिगत कार्यो पर भी

---

1. *डॉ० रघुवीर शास्त्री : महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था, पृ० 16।*
   डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास पृ० 183-184।
2. *धर्मयुग : गीता जयन्ती अंक, 14-20 दिसम्बर, पृ० 20 ।*
3. *डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास पृ० 183।*
   डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ० 9, 68, 69।
4. *भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, पृ० 79।*
5. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ० 46 एवं 47।*
6. *राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ० 84।*
7. *अनन्त सदाशिव अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 109।*

नियंत्रण रखती थी।

राजसत्ता पर जनमत का भी उस समय अत्यन्त कड़ा नियंत्रण रहता था।[2] जो राजा जनमत की उपेक्षा करता था उसका नाश हो जाता था।[3] वह युद्ध का प्रणेता नहीं अपितु समस्त प्रजा का स्वामी माना जाता था।[4] वह अत्याचारी कदापि नहीं हो सकता था। जो राजा प्रजा की रक्षा करने का कर्तव्य पूरा नहीं करता था वह विक्षिप्त स्वान की भांति वध करने योग्य माना जाता था। जिस प्रकार विक्षिप्त स्वान को मारने का अधिकार सबको होता है उसी प्रकार कर्तव्य से विरक्त राजा का वध करने का अधिकार जनता के प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त था।[5]

इस समय द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य भी थे।[6] द्वैराज्य शासन पद्धति मे राजा और युवराज संयुक्त रूप से शासन किया करते थे।[7] सामान्यतः एकात्मक या एकछत्र राज्य व्यवस्था ही प्रचलित थी।[8]

राजतंत्र में राजा के अधिकार अधिक होने के कारण राजा के सभी कर्तव्य जनतंत्र में राजा पर चरितार्थ नहीं होते थे। राजा का अभिषेक राजतंत्र में पूर्व राजा की संतानों में योग्यतम व्यक्ति को खोजने के आधार पर होता था। राजा के ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ पुत्रों में से ही नये राजा का चयन ही वंशानुगत राजतंत्र था। इसी के साथ राजतंत्र के राजा का कार्यकाल आजीवन हो गया परिणामस्वरूप मंत्रियों का कार्यकाल एवं नियुक्तियां भी राजा की इच्छा पर निर्भर थीं। जनतंत्र का राजा राज्यसभा द्वारा निर्वाचित व्यक्ति ही होता था। सम्पूर्ण कार्य बहुमत के आधार पर होने के कारण राजा की नियुक्ति भी बहुमत के आधार पर होती थी। जनतंत्र में राजा का निर्वाचन भी निश्चित अवधि के लिये ही होता था। अंधक, वृष्णि संघ में कभी उग्रसेन तो कभी आहुक को राजा के रूप में सम्बोधिक किया गया है।

---

1. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 47।*
2. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, 100।*
3. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, 99।*
4. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 47।*
5. *शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति, पृ0 178।*
   डा0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ0 70-71।
6. *डा0 श्यामलाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य व्यवस्था, पृ0 80।*
7. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 446।*
8. *अनन्त सदाशिव अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0 21।*

कृष्ण-नारद संवाद से परिलक्षित होता है कि अध्यक्ष पद के संघ राज्य के नेताओं में स्पर्धा थी। प्रजातंत्रीय राजा के साथ मंत्रणा करने का गण के प्रधान व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त होता था। मंत्रणा को गुप्त रखने तथा गुप्तचरों की नियुक्ति करने का कार्य प्रधान व्यक्तियों के ही अधीन होता था।[1] प्रजातंत्र राज्यों में मंत्रियों की संख्या का कोई निश्चित नियम नहीं था। गणराज्यों की सभा को ही यह निश्चय करने का अधिकार था। इस सभा में सभी जातियों के कुल वृद्धों को प्रतिनिधित्व के समान अधिकार प्राप्त थे। इस सभा के अधिकारों के विषय में आदि पर्व में उल्लिखित अंधक-वृष्णि-संघ की सुधरमा नाम सभा के कार्यों से कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। राजा उग्रसेन की अनुपस्थिति में भी सभा को निर्णय लेने के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। राजतंत्र तथा प्रजातंत्र दोनों ही के राजाओं का मूल कर्तव्य राज्य की व्यवस्था और सुरक्षा करना था। दोनों ही प्रकार के राजाओं के लिये प्रजा को सुखी एवं प्रसन्न रखना अनिवार्य था। उनका यह भी कर्तव्य था कि वे जनता को अपने धर्म के पालन करने की पर्याप्त सुविधा दें तथा उनके हृदय से राजा के प्रियजनों, राज्य कर्मचारियों, चोरों, शत्रुओं के भय से उनको मुक्त रखें।

जनतंत्रीय राज्यों में प्रजातंत्र की सभी विशेषतायें तथा दोष विद्यमान थे। विधायिनी शक्ति का पृथक्करण जनता का प्रतिनिधित्व, निर्वाचन, निष्पक्ष न्याय व्यवस्था, सत्ता संगठन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आदि तत्व सम्मिलित थे। इनके साथ ही समानता के आधार का दुरूपयोग, दलबंदी का कुप्रभाव तथा राजकीय मंत्रणाओं को गुप्त न रखना भी सम्मिलित थे।[2]

जनतांत्रिक राज्य भी कई प्रकार के थे, जिन्हें वैराज्य पारमेष्ठ्य राज्य, कुलराज्य, गणराज्य और संघराज्य कहते थे। बौद्ध साहित्य में इनको गणराज्य और कौटिल्य अर्थशास्त्र में संघ कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन विद्वानों को जनतंत्रीय शासन का पूरा ज्ञान था।[3]

---

1. *धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालेय पाण्डव।*
   युधिष्ठिर यथा युक्तो नाधि बन्धेन योक्ष्यसे।। शा० प० : अध्याय 71, श्लोक 25।
   बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
   ज्ञातिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषतः।। शा० प० : अध्याय 81, श्लोक 17 एवं 18-26।
2. *डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ० 226।*
3. *डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ० 67 से 82।*

संघ राज्य में भी फेडरेशन (Federation) तथा राष्ट्रमंडल (Con federation) दो रूप थे।[1] वैराज्य का शासन प्रजा द्वारा धर्मानुसार होता था। वहां न तो कोई राजा था और न ही कोई दण्ड देने वाला।[2] भीष्म पर्व में ऐसे चार राज्यों-मंग, मशक, मानस और मंदग के नाम उल्लिखित है, जहाँ प्रजा स्वधर्म पर आरूढ़ रहते हुए परस्पर रक्षित रहती थी।[3] अतः स्पष्ट है कि भारतवर्ष में एक ऐसी भी शासन व्यवस्था थी, जहां राजा के बिना ही जनता परस्पर धर्मानुसार अपनी समस्याओका समाधान करते हुए शासन संचालन करती थी वैराज्य शासन पद्धति हिमालय के समवर्ती प्रदेश उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र में स्थापित थी। ये पद्धति सुव्यवस्थित एवं संगठित प्रजातंत्र न होकर अराजकतंत्र ही था।[4]

पारमेष्ठय राज्य में राज्य का प्रत्येक गृह (घर) एक इकाई होता था। प्रत्येक इकाई का एक गृहपति निर्वाचित होता था, जो राजन् कहलाता था। ये सब सभा के सदस्य होते थे, जो मिलकर अपने प्रधान (जो श्रेष्ठ कहलाता था) को निश्चित समय के लिये नियुक्त करते थे। उनमे से कोई भी सम्राट की पदवी धारण नहीं करता था। वे सब राज्यसभा के सदस्य होते थे। इसमें पूर्णतया जनतंत्र शासन प्रणाली का पालन होता था। सब मिल-जुलकर शासन-संचालन करते थे और सदैव राज्य हित चाहते हुए राज्य की उन्नति एवं समृद्धि करने में संलग्न रहते थे। वे स्वयं अपनी आत्मप्रशंसा नहीं करते थे वरन् दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ने वालों की प्रशंसा होती थी। शासन -व्यवस्था में संयम को बहुत महत्वूपर्ण स्थान दिया गयां उनकी भूमि सभी प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण रहती थी, क्योंकि वे अपने कल्याण के लिए सदैव सजग रहते थे। ऐसे राज्य में सभी समान समझे जाते थे, न

---

1. *डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ० 87।*
2. *न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।*
   धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।। शा० प० : अध्याय 59, श्लोक 14।
3. *मंगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्था।*
   मंगा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप।। भीष्म पर्व : अध्याय 11, श्लोक 36।
   मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः।
   मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ।। भीष्म पर्व : अध्याय 11, श्लोक 37।
   सर्वकामसमायुक्ता शूरा धर्मार्थनिश्चिताः।।
   शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः।। भीष्म पर्व : अध्याय 11, श्लोक 38 एवं 39।
4. *डॉ० विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० 166, 168।*

कोई छोटा था और न कोई बड़ा।[1] सभी गृहपतियों को समानता और स्वतंत्रता के आधार पर प्रजा का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार था। इसीलिए इस शासन प्रणाली को श्रेष्ठ माना गया है। महाभारत मे उरगा, सिंहपुर, अभिसारी आदि ऐसे ही राज्य थे।[2]

कुल-राज्य में पारमेष्ठय राज्य की भांति राज्य की इकाई गृह थी । प्रत्येक गृह अपने सबसे बुद्धिमान और वृद्ध पुरुष को गृहस्वामी (गृहपति) नियुक्त करता था, जो पिता होता था और पिता के न रहने पर ज्येष्ठ पुत्र यह पदवी धारण करती। सभी गृहपति मिलकर अपना एक प्रधान निर्वाचित करते थे, जो दलवृद्ध कहलाता था। ये सब लोग मिलकर सभा द्वारा शासन-संचालन का कार्य चलाते थे। ऐसे राज्य का आधार व्यक्तिगत समानता और स्वतंत्रता ही थी। एक कुल का राज्य होने के कारण ऐसे राज्य छोटे-छोटे ही होते थे। इसीलिए पारस्परिक सहयोग और राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर ये राज्य शीघ्र ही शक्तिशाली हो जाते थे।[3] महाभारत में शाक्य, भरत, वैदेह, पांचाल, इक्ष्वाकु, अंधकवृष्णि आदि ऐसे हो कुलराज्य थे।

एकाधिक गणराज्य मिलकर संघ राज्य कहलाते थे। गणराज्य में कई कुल राज्य मिल जाते थे। इसीलिए ऐसा राज्य बहुत बड़ा होता था। गणराज्य में सभी कुलों अथवा जातियों को समान, अधिकार प्राप्त थे।[4] प्रत्येक गणराज्य में समानता एवं स्वतंत्रता के आधार पर कुलपतियों (कुलवृद्धों) के द्वारा गणमुख्य (प्रधान) निर्वाचित होते थे। गणमुख्य निश्चित समय के लिए अथवा जीवनपर्यन्त निर्वाचित होता था। ये सभी मिलकर पारस्परिक सहयोग से राज्य को उन्नत और समृद्ध बनाने का पूरा-पूरा प्रयास करते थे। इसीलिए गणराज्य शीघ्र ही सम्पन्न और शक्तिशाली हो जाते थे। अतः ऐसा राज्य प्रजातंत्रात्मक शासन- व्यवस्था का जीता जागता प्रतीक माना जा सकता है।

गणराज्यों में महासभा के अतिरिक्त भी एक संस्था होती थी जिसे परिषद कहा

---

1. *अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम्।*
   जात्या च सदृशः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा। शा० प० : अध्याय 107, श्लोक 30।
2. *सभा पर्व : अध्याय 27, श्लोक 19-20।*
3. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 421।*
4. *न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः।*
   भेदाच्चैव प्रदानाश्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः।। शा० प० : अध्याय 107, श्लोक 31 एवं 30।

जाता था। इसमें सब जातियों के लोग सम्मिलित होत थे।[1] गणों का प्रत्येक जाति अथवा कुल की दृष्टि से समान माना जाता था।[2] इसके महासभा में सारे अधिकार निहित थे। ये केवल मंत्रिमंडल के सदस्यों का, ही नहीं अपितु सेनापतियों का निर्वाचन भी करती थी। इसी को विदेश नीति, युद्ध छेड़ने, संधि करने का भी अधिकार था।[3] गणों में दलबंदी भी रहा करती थी।[4] गण का अधिपति वृष्ट कहलाता था। गण स्वतंत्र होते थे।[5]

कुछ गणराज्य अपनी भलाई और स्वतंत्रता की स्थिरता हेतु परस्पर मिलकर एक बड़ा राज्य बना लेते थे। ऐसा ही राज्य संघराज्य कहलाता था। संघ राज्य में प्रत्येक गणराज्य से समानता के आधार पर निर्वाचित व्यक्ति संघ-सभा के सदस्य बनते थे, जो अपना संघमुख्य निर्वाचित करते थे। ये सब मिलकर पारस्परिक सहयोग से संघ राज्य की शासन व्यवस्था चलाते थे। ऐसे राज्य के लिए संघबद्ध रहना श्रेष्ठ माना जाता था। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत होने, कर्तव्यपरायणता में कुशल होने और विद्वान होने के कारण ऐसे राज्य की जनता अपने संघ राज्य को इतना शक्तिशाली बना लेती थी कि सेना द्वारा उस पर विजय पाना सर्वथा असम्भव था। केवल शत्रु द्वारा जनता में फूट डालकर ही संघ राजय का विनाश किया जा सकता था।[6]

महाभारत में कई स्थानों पर संघ राज्यों का उल्लेख मिलता है। अथक, वृष्णि, यादव, कुकुर और मांग का एक बहुत ही शक्तिशाली संघ था जिसके प्रमुख श्रीकृष्ण थे। इस राज्य की शक्ति के बारे में कहा जाता है कि जिसके पक्ष में यह हो जाता उसकी विजय निश्चित है।[7] इसके अतिरिक्त पंचगणाः सप्तगणाः, दसगुणाः आदि का भी उल्लेख मिलता

---

1. *डा० राधा कुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ० 125।*
2. *डा० श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ० 126।*
3. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 421।*
4. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 422 व 423।*
5. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, 55।*
6. *बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम्।*
   एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जनाः सुखितदुःखिताः।। शा० प० : अध्याय 78, श्लोक 25
   शा०पा० : अध्याय 107, श्लोक 14, 22, 32।
7. *यस्य न स्युर्न वै स स्याद् यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्।*
   द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोम्येकतरं न च।। शा० प० : अध्याय 81, श्लोक 9।

है।[1] कौटिल्य ने दो प्रकार के संघ राज्यों का उल्लेख किया है- वार्ताशां स्वोपजीविसंघ (बिना राजा की उपाधि वाले संघ राज्य जो शस्त्र, व्यापार, कृषि द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं) और राज शब्दोंपजीवि संघ (राजा की उपाधि धारण करने वाले राजशासित राज्य)। प्रथम श्रेणी में कम्बोज, सौराष्ट्र आदि संघराज्य आते हैं और दूसरी श्रेणी में लिच्छिविक, व्रनिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरू, पांचाल आदि संघराज्य आते हैं।[2]

संघराज्य छोटे-छोटे गणराज्यों के संघभूत होने के सिद्धांत पर आधारित होता था। जैसे अंधक वृष्णि संघ कई गणों को मिलाकर महासंघ भी निर्मित होता था।[3] गण शब्द का प्रयोग समस्त राजनैतिक वर्ग के लिये होता था। एक शासक मंडल, एक प्रधान या सभापति एवं गण मूख्य होते थे। ये सब मिलकर समाज एवं राज्य की व्यवस्था का संचालन करते थे।[4] जैसे यादव, कुकर, भोज अंधक और वृष्णि थे।[5] इन गणों के अपने नेता होते थे जो समय-समय पर इस महासंघ के अध्यक्ष पद पर बहुमत के आधार पर निर्वाचित होते थे।[6] कृष्ण ऐसे ही महासंघों के अध्यक्ष निर्वाचित हुये थे।[7] ऐसे महासंघ की शासन सभा प्रत्येक गण के नेता से बनती थी जिसके पीछे अपने-अपने गण के रूप में संघ के अंतर्गत सब जातियों में विभक्त समग्र जनता सम्मिलित थी। सब व्यक्ति मिलकर शासन का कार्य करते थे। किसी एक पर शासन का समस्त उत्तरदायित्व नहीं था।[8] संघराज्य अध्यक्ष की स्थिति बड़ी नाजुक और दयनीय होती थी उसे संघ केहित को सर्वोपरि रखकर कार्य करना होता था परन्तु उसे प्रायः प्रबल विरोध तथा कठोर आलोचना का सामना करना पड़ता था।[9]

प्रजातंत्र और राजतंत्र में संघर्ष की स्थिति विद्यमान करती थी। राजाओं की

---

1. *शा0 प0 : अध्याय 27, श्लोक 12, 16, 17।*
2. *अर्थ शास्त्र : अध्याय 11/1, श्लोक 821।*
3. *राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ0 233।*
   डा0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 128।
4. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, 105।*
5. *डा0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 130।*
6. *डा0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 131।*
7. *राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ0 233।*
8. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, पृ0 55।*
9. *वृन्दावनदास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य, पृ0 164।*
   डा0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 129।

विस्तारवादी लोलुपता में गणराज्य प्रमुख रूप से बाधक थे। गणराज्यों की प्रजा जाति कुल के गौरव की रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करने में न झिझकती थी। ये परतंत्र होने की अपेक्षा युद्ध में मृत्यु का वरण करना अधिक गौरवपूर्ण समझते थे। जाति मर्यादा इनके लिये सर्वोपरि थी। उनका संगठन उन्हें या तो निकट युद्ध करने के लिये प्रेरित करता था या सामूहिक रूप से स्थान त्याग कर दूसरे प्रदेश के लिये बर्हिगमन करना। मगध, चेदी, करूशा अंग आदि राजाओं की सम्मिलित सेनाओ का बंधक वृष्णि संघ से क्रमिक संघर्ष इसी वैचारिक विरोध का प्रमाण है।[1] लेकिन कुछ शक्तिहीन गणराज्य, साम्राज्यवादी राजाओं की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। इस प्रकार प्रजातंत्रों का साम्रज्यवादी शक्तियों से संघर्ष भी रहता था।

धार्मिक परिस्थिति-

कृष्ण के जन्म से पूर्व धर्म की स्थिति व्यवस्थित हो गई थी। दान तथा तप को बहुत धार्मिक माना जाता था। अनेकों प्रकार के दानों की स्तुति का उल्लेख है। लेकिन गोदान सबसे महत्वपूर्ण माना जाता था। गायों को मारना और पैर से छूना पाप माना जाता था। जो नरेश गायों का दान करते थे। उनकी प्रशंसा होती थी।[2] प्रजा के जीवन का आदर्श उच्च था। यज्ञ और दान के साथ ही शील, शिष्टाचार, सत्य, तप, माता-पिता की भक्ति, आतिथ्य सत्कार, शरणागत की रक्षा आदि धर्म के ही अंग माने जाते थे। अहिंसा को भी धर्म का एक मुख्य तत्व माना जाता था। इस प्रकार की हिंसा पाप समझी जाती थी।

प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक देवताओ में प्रजा की आस्था थी। ये देवता सृष्टि के भिन्न-भिन्न भौतिक चमत्कार मेघ, विद्युत आदि के अधिष्ठाता स्वरूप माने जाते थे। इनमें इन्द्र, आदित्य, वरूण मुख्य थे।[3] कृषक इन्द्र की छड़ी को पूजते तो ग्वाले पर्वत का उत्सव करते। राजा और योद्धा धनुर्मेह मानते और किसी मजबूत धनुष को किसी देवता का

---

1. *वृन्दावनदास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य, पृ0 166।*
   महाभारत : सभा पर्व : पृ0 14।
2. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ0 457।*
3. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ0 446।*

दिया हुआ मान कर उस पर बल परीक्षण करते थे। शिव, इन्द्र आदित्य, यम, कुबेर, अग्नि, वायु, सोम आठ दिशाओ के अधिपति मानकर पूजे जाते थे।[1] नागों और यज्ञों की भी पूजा का प्रचलन था। विभिन्न देवियों में दुर्गा की पूजा अत्यन्त लोकप्रिय थी।[2] लेकिन इन देवी देवताओ की मान्यता होते हुये भी इन्द्र और वरूण की प्रधानता समाप्त हो रही थी तथा उनका स्थान विष्णु और रुद्र ने ले लिया था। रुद्र शिव रूप में मंगलकारी देवता माने जाते थे। वरुण का स्थान विष्णु ने ले लिया था। यह दोनों ही देवता अत्यन्त ही लोकप्रिय हो रहे थे। प्रजापति यज्ञ के स्वामी के रुप में पूजे जाने लगे।[3] इस प्रकार वे देवी-देवता जो किसी समय प्रमुख थे। गौड़ हो रहे थे और जो गौड़ थे वे प्रमुख स्थान ग्रहण कर रहे थे। कुछ नवीन देवताओ की भी स्थापना हो रही थी लेकिन इन सब देवी देवताओं के पीछे इस काल में एक ईश्वर की विभिन्न शक्तियों का ही अनुमान किया जाता था तथा वे उसकी उत्पादक, धारक, संहारक शक्तियों के प्रतीक ही समझे जाते थे।[4] देवी-देवताओ की लोकप्रियता एवं आस्था ने मूर्ति पूजा को समाज में प्रतिष्ठित कर दिया था। विष्णु, शिव, स्कंध की मूर्तियां पूजी जाती थीं। तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, भूत-प्रेत में भी प्रजाजन आस्था रखते थे।

जनता की धार्मिक विचारधाराओं और मान्यताओं पर ब्राम्हण, पुरोहितों का बहुत प्रभाव था। कर्म-कांडों, विभिन्न संस्कारों एवं यज्ञों के सम्पादन मे दक्ष होने के कारण उन्हें पृथ्वी का देवता अथवा भू-देव कहा जाने लगा था। वेदों तथा धार्मिक ग्रंथों के सच्चे ज्ञान का ये वर्ग अपने को अधिकारी मानता था। फलस्वरूप ब्राह्मण की मान-प्रतिष्ठा समाज के सभी वर्णो की अपेक्षा अधिक हो गयी थी। वंशानुगत ब्राम्हण वर्ग के हाथों पुरोहित-व्यवसाय आ जाने पर उनका सम्मान शासकों की दृष्टि में भी अधिक हो गया। वे उन्हें राजनीतिक क्षेत्र मे अपना सहायक मानने लगे। आंतरिक शांति शत्रु विनाश एवं दिग्विजय की कामना रखने वाले शासकों ने इन्हीं ब्राह्मणों की सहायता से बड़े-बड़े यज्ञों को सम्पादित करके सम्राट, एकराट की उपाधियां प्राप्त कर ली थीं। इन यज्ञों से उन्हें यश भी प्राप्त होता था और मानसिक शांति भी। ब्राह्मणों की सहायता पर ही अश्वमेघ-यज्ञ के माध्यम से उनका सार्वभौम पद आधारित रहता

---

1. *डा० बुद्धप्रकाश : भारतीय धर्म एवं संस्कृति, पृ० 28।*
2. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ० 554।*
3. *डा० सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ० 591।*
4. *बी० एन० लूनिया : प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास, पृ० 87।*

था।[1] इस विशेष स्थिति से ब्राह्मण ने यज्ञों में अत्यधिक आर्थिक व्यय और जटिलता उत्पन्न कर दी। किन्तु जनसाधारण ने धार्मिक उत्तरदायित्व मानकर स्वीकार कर लिया था। फलतः कृष्ण के जन्म से पूर्व देश मे धार्मिक परिस्थितियां कर्मकांडपूर्ण होते हुये भी श्रेष्ठ नैतिक आदर्शों से आच्छादित थीं।

उस समय धर्म में यज्ञादि कर्म भी महत्वपूर्ण माने जाते थे। विभिन्न संस्कारों की तरह मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में यज्ञ सम्मिलित हो गये थे। यज्ञों के सम्पादन की प्रक्रिया अत्यन्त दुरूह होती गई तथा उनको रहस्यमय भी माना जाने लगा। अब अश्वमेघ, राजसूय, वाजपेय आदि समयसाध्य, व्ययसाध्य और जटिल यज्ञों का संपादन होने लगा था। धार्मिक विश्वासों के अनुसार यज्ञ ही परम शक्ति का साधन माना गया जिसके द्वारा देवता भी वशीभूत किये जा सकते थे, वे यज्ञ लौकिक सुख और पारलौकिक शांति देने वाली मानी जाती थी। यज्ञ देवताओं को तुष्ट करने का सर्वोत्तम साधन माना गया।[2] इस युग में धर्म के दो मुख्य अंग थे- ईश्वर स्तुती अथवा स्वाध्याय और यज्ञ। प्रत्येक मनुष्य इनका पालन करता था। अपने पित्रों की पूजा भी उस काल में पाई जाती थी। ये पूजा श्राद्ध के माध्यम से होती थी। महाभारत में इस प्रकार की पूजा का उल्लेख मिलता है। अनुशासन पर्व में तो श्राद्ध की विधि का विस्तार के साथ उल्लेख मिलता है। श्राद्ध में पित्रों के तर्पण हेतु विद्वानों को भोजन कराया जाता था।[3]

उस समय स्वर्ग-नरक की भी अनेक धारणायें और कल्पनायें थीं। ब्रह्मवादी लोग ब्रह्मलोक की कल्पना करके यह मानते थे कि वहां मुक्त हुये पुरुषों की आत्मा परब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर शाश्वत गति प्राप्ति की जाती थी। पाताल लोक की भी कल्पना की गई थी। ऐसी धारणा बन गई थी कि पुण्य करने वाले स्वर्ग को जाते हैं और पापी नरक को। पाप कर्म के प्रायश्चित की भी कल्पनायें स्थापित थीं स्वर्ग और नरक की कल्पना का लोगों के नैतिक आचरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव रहता था। नरक और स्वर्ग की कल्पना ने ही आत्मा के आवागमन के सिद्धांत को पूर्णरूपेण स्थापित कर दिया था।[4]

1. *डॉ० विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० 198-200।*
2. *डॉ० विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० 201-202।*
3. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ० 455।*
4. *डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 58।*

स्पष्ट है कि कृष्ण के जन्म से पूर्व देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियां बहुत कुछ आज की परिस्थितियो के समरूप थीं। कुछ अंशो में उन्हें आज की प्रवृत्तियो की जन्मदात्री भी कहा जा सकता है। तत्कालीन असंगठित राजनैतिक स्वरूप, राजनैतिक संस्थाओं के प्रयोगो के युग के कारण ही था। सारे देश का सामाजिक परिवेश अनेको भ्रांतियों तथा विरोधाभासों के ताने-बाने से बुना हुआ था। आर्थिक सम्पन्नता व स्वावलम्बन उस युग के गौरव का कारण थे तथा धार्मिक मान्यताएं कर्मकांडो के शिकंजे से मुक्त होने के लिये संघर्षशील थी। कई क्षेत्रों में अस्थिरता और अस्थायित्व होने के कारण देश राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक रूप से संक्रमण काल से गुजर रहा था। परन्तु कृष्ण के जन्म के प्रादुर्भाव के बाद विभिन्न परिस्थितियों के टकरावों से स्थायी व दृढ़ आधार निर्मित होने लगे थे जिनमें कृष्ण के नेतृत्व की ही प्रधान एवं प्रेरक भूमिका थी।

सामाजिक परिस्थिति-

कृष्ण के प्रादुर्भाव से पूर्व समाज में अनेकों आधार-भूत तत्व पर्याप्त रूप में व्यवस्थित तथा दृढ़ हो गये थे। राजनैतिक परिस्थितियों की भांति देश के सामाजिक संगठन में अनेकों विविधतायें दृष्टिगोचर होती हैं। वर्ण व्यवस्था, आश्रम (व्यवस्था) धर्म, समाज में नारी का स्थान, वेषभूषा, मनोरंजन के साधन, वर्णों के उत्तरदायित्व, उनके सम्बन्ध, जातियों का उद्‌गम, विवाह पद्धितयों आदि सभी क्षेत्रों में विभिन्नताओं एवं विरोधाभासों का दिग्दर्शन होता है। यदपि यह ठीक है कि विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का उदय, संगठन और उत्थान, सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ हुआ तथापि उनका सम्बन्ध व्यक्ति और समाज दोनों से सतत रहा है। प्रशासनतंत्र के क्रमिक विकास, नवीन प्रयोगों तथा आर्थिक प्रगति के विभिन्न परिवर्तनों ने प्रचलित रीति-रिवाजों को प्रभावित किया और समाज के विभिन्न तत्वों को स्थिर स्वरूप प्रदान किया।

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों का धर्म मानव-धर्म है। मनुष्य के कर्तव्य और आचार के रूप में उसकी व्याख्या की गई है। सामाजिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के कर्तव्य के रूप में जो उचित है, वही उसका धर्म है। धर्म की इस व्यावहारिक व्यवस्था

के लिये धर्मशास्त्रों में मनुष्य-समाज का विभाजन चार भागों में किया गया है, उन्हें चार वर्ण कहते हैं। मानवीय जीवन और समाज के लिये चार मुख्य कर्तव्य हैं- विद्या, रक्षा, व्यापार, और सेवा, इन्हीं के आधार पर चार वर्णों में समाज का विभाजन किया गया है। समाज का सम्पूर्ण दायित्व ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र चार वर्णों पर था। यह व्यवस्था मूलतः वर्णों के विभाजित उत्तरदायित्वों पर आधारित थी, परन्तु उत्तरदायित्वों का सिद्धान्त दृढ़ न होकर लचीला था।[1] यह बात समाज के एक अल्प वर्ग में ही मान्य थी कि जन्म ही उच्चता या लघुता का निर्णायक है। यह स्वीकार किया जाने लगा था कि छोटे समझे जाने वाले लोग अच्छे कर्मों से ऊंचे उठ सकते हैं।[2] परम्परागत कर्मों को छोड़कर लोग अन्य व्यवसाय अपनाने लगे जैसे यज्ञ आदि कर्मों द्वारा जब ब्राह्मणों का जीविकोपार्जन नहीं हो सकता था तब वे अन्य कार्य करने लगे थे। बढ़ई ब्राह्मण एवं शिकारी ब्राह्मण के संकेत भी मिलते हैं।[3] कुछ क्षत्रियों ने अपना मूल दायित्व त्याग कर विद्वता व आचार्य पद प्राप्त कर लिया था। इसी प्रकार के शूद्र ब्राह्मणों व क्षत्रियों के कर्म करते हुये अवगत होते हैं। यादव कुल के अनेक क्षत्रियों ने छात्रवृत्ति त्याग दी थी और वे वैश्यों का व्यवसाय करने लगे थे। इस प्रकार यह गोप वैश्य और क्षत्रिय दोनों थे। इनमें अनेक शूद्र भी रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं।[4] सभी वर्ण अपने में ही विभाजित होकर दृढ़ रूप से अन्तसंगठित होते गये जैसे क्षत्रियों में राजवंश, राजपुरुष, शासक और सैनिक, ब्राह्मणों में साधारण पुरोहित राजमंत्री शिक्षक, उपदेशक, आचार्य, ऋषि। वैश्यों में गोपालन, कृषि, व्यापार व दूसरे उद्योगों के आधार पर तथा शूदों में पारिवारिक दास या नौकर, वैश्यों के मजदूर व दूसरे हीन व्यवसाय करने वाले आदि।[5] विभिन्न व्यवसायिक वर्गों के उदय से तथा इन वर्णों के अन्तविभाजन ने चारों वर्णों में सामाजिक भेद-भाव की भावना को जन्म दिया।[6] परन्तु फिर भी इस काल में द्वेषात्मक रुढ़िवादी वर्ण व्यवस्था अभी सर्वथा

---

1. *डॉ० राधाकृष्णन : इण्डियन फिलाफिसी : भाग 1, पृ० 111।*
2. *डॉ० राधाकृष्णन : इण्डियन फिलाफिसी : भाग 1, पृ० 112।*
3. *कृष्णदत्त बाजपेयी : उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 21-22।*
4. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृ० 12।*
5. *डॉ० राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत हिन्दूकाल : पृ० 68।*
   डा० सुशील माघव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ० 586, 587।
6. *डॉ० विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० 72।*

अनजान थी।[1]

उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त तत्कालीन समाज में व्यवसायानुसार बहुत सी नीतियों ने जन्म ले लिया था।[2] ये जातियां, स्वर्णकार, कुलाल, दर्जी, बढ़ई, रेगरेज, जुलाहा, तेली, गंधी, केवर, काछी, माली, नाई, बारी, मनिहार, रजक आदि थीं।[3] लेकिन वर्ण व्यवस्था की उपस्थिति में जातियों के विभाजन का कोई विशेष महत्व नहीं था। वास्तव में जातिय पृथकीकरण न होकर व्यवसायिक पृथकीकरण था। जितनी व्यवसायों की संख्या थी उतने ही उनकी इकाइयों के विभाजन भी थे। इसलिये जाति प्रथा अत्यधिक कठोर नहीं थी।[4] जातीय संकीर्णता का इसकाल में अभाव था। जो भी ऊंच-नीच की भावना थी वह वर्ण के आधार पर थी।[5] वर्ण परम्परा इतनी दृढ़ थी कि उसका प्रयोग जाति के अर्थ में किया जाने लगा था। इतना ही नहीं देवताओं तक का वर्ण विभाजन हो गया था। अग्नि एवं वृहस्पति, देवता में ब्राह्मण थे, इन्द्र, वरुण, यम क्षत्रिय थे, वसु, रुद्र, विश्वदेव एवं मारुत 'विश' थे तथा पूषा (सूर्य) शूद्र था।[6] वर्ण व्यवस्था के आरम्भिक संकेत ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलते हैं।[7]

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मणों का सर्वोच्च स्थान माना जाता था। उनके तीन प्रधान कार्य वेदाध्ययन, यज्ञ करना और दान देना था।[8] मनुस्मृति में भी ब्राह्मण के तीन कर्म महत्वपूर्ण माने गये हैं।[9] कर्म के अनुसार ब्राह्मणों को पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है- नगरवासी ब्राह्मण जिनका कार्य, तप, होम, यज्ञ, देवपूजन आदि था। ब्रह्मवादी ब्राह्मण वेदान्त, सांख्य , योग आदि दर्शनों के अध्ययन में निरत रहते थे। बनों में रहकर फल, मूलादि भक्षण करने वाले तपस्या में निरत आश्रमवासी ब्राह्मण बनवासी ब्राह्मण कहलाते थे।[10]

---

1. *भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, पृ0 53।*
2. *कैलाश चन्द्र जैन : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, पृ0 32।*
3. *डा0 हर गुलाल : मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ0 22।*
4. *डा0 राधा कुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ0 95।*
5. *कैलाश चन्द्र जैन : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, पृ0 32-33।*
6. *कैलाश चन्द्र जैन : प्राचीन भारतोय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, पृ0 31-32।*
7. *ऋग्वेद : अध्याय 70, श्लोक 90।*
8. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ0 574।*
9. *मनुस्मृति : अध्याय 10 : श्लोक 75।*
10. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ0 23*

सम्पूर्ण धार्मिक क्षेत्र पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था।[1] हवन और यज्ञ के अनुष्ठान कराने के कारण उन्हें देवता तुल्य समझा जाता था। ब्राह्मणों के प्रभुत्व का कारण प्राचीन भारतीय समाज में संस्कृति का महत्व ही था। प्राचीन संस्कृति में विद्या, साधना, धर्म, और उपचार का बहुत व्यापक महत्व होने के कारण उसका संरक्षक और प्रचार करने वाला एक पृथक वर्ग बन गया जिसे ब्राह्मण का नाम मिला। समाज के धार्मिक नेतृत्व के कारण ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा शीर्षस्थ हो गयी थी। अपने त्याग, तपस्या तथा धन के लोभ से मुक्त रहने के आदर्शों पर जीवन व्यतीत करने के कारण समाज में उनका प्रतिष्ठित स्थान हो गया था। ऐसा विश्वास दृढ़ हो रहा था कि ब्राह्मण भले ही वेद न पढ़ा हो फिर भी वह अग्नि की भांति पूज्य देवताओं में से एक है।[2] समाज में ब्राह्मणों के श्राप का मय विद्यमान था।[3] ब्राह्मणों को शारीरिक कष्ट देने वाले तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाने वाले लोगों के विरुद्ध राजकीय दण्ड निर्धारित था।[4] ब्राह्मण बिना राजा के रह सकता था परन्तु राजा बिना पुरोहित के नहीं। क्षत्रिय विद्वता ग्रहण करके ब्राह्मणतत्व ही प्राप्त करने का प्रयास करते थे।[5] परन्तु राजनैतिक शक्तियों व अनुष्ठानों के लिए ब्राह्मण वर्ण पर ही निर्भर रहते थे। अतः क्षत्रिय, ब्राह्मणों और धर्म के रक्षक होते हुये भी ब्राह्मणों से भिन्न माने जाते थे। इस वर्ण की समाज में इतनी अधिक मान्यता थी कि उसे अनेको विशेषाधिकार प्राप्त थे। उन्हें गंभीर से गंभीर अपराध पर भी मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता था। सामान्य अपराधों में भी अन्य वर्णों की अपेक्षा उनके साथ उदारता का व्यवहार किया जाता था। उनके लिये सबसे बड़ा दण्ड सम्पत्ति जब्त करना,सिर मुडवाना या जुर्माना करना ही होता था। अपराधों के संदर्भ में प्राप्त विशेषाधिकारों के अतिरिक्त अन्य विशेषाधिकार भी उन्हें प्राप्त थे। वे कर देने से मुक्त थे। राजा की अनुपस्थिति में उन्हें न्याय करने का अधिकार था। अनायास प्राप्त हुये धन पर उनका अधिकार मान लिया जाता था। उन्हें भीड़ में या रास्ता रुका होने पर अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा पहले मार्ग दिया जाता था। विवाह आदि में भी इस वर्ण को विशेषाधिकार प्राप्त था। यही ऐसा वर्ण था जो सब वर्णों की

---

1. *डॉ० विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० 76।*
2. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 575, 576।*
3. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ० 23।*
4. *डॉ० विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० 90।*
5. *वाचस्पति गैरोला : भारतीय संस्कृति और कला, पृ० 209।*

स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार रखता था।[1]

समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ण क्षत्रिय कहलाता था। 'ब्राह्मण' धर्म, विद्या, तप, साधना आदि में लीन रहते थे और शासन सुरक्षा आदि का भार क्षत्रियों पर था समाज में उसकी प्रतिष्ठा ब्राह्मण वर्ग के समक्ष ही थी। इसका विशेष कार्य प्रजा एवं राज्य की रक्षा करना था। युद्ध करना उसका मूल कर्तव्य था। इस क्षेत्र में प्राण त्यागना पुण्य का कार्य समझा जाता था। वेदाध्ययन, यज्ञ करना, दान देना आदि भी उसके कुछ अन्य कर्तव्य थे।[2] क्षत्रियों की सामाजिक कीर्ति एवं महत्व को देखकर ब्राह्मण भी क्षत्रिय कर्म करने के लिये प्रेरित होते थे। कुछ क्षत्रिय भी शासन तथा युद्ध के अतिरिक्त आंध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करके ब्राह्मण वृत्ति अंगीकार कर लेते थे।[3]

वैश्यों का सम्बन्ध मुख्यतः आर्थिक जीवन से था। वह समाज के आर्थिक स्वरूप का निर्माता था। कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य आदि उनके प्रमुख कर्त्तव्य थे।[4] समाज की आर्थिक उन्नति एवं विकास उन्हीं के प्रयत्नों पर ही निर्भर था।[5] वैश्य लोग सूद पर रुपया देने तथा व्यापार आदि के भी कार्य करते थे। लाभ कर्म वैश्यों का प्रधान धर्म बन गया था।[6] राजकीय आर्थिक स्थिति का सुधार करना भी वैश्यों का कार्य था। युद्धनिरत क्षत्रियों के पारिवारिक भरण-पोषण का भार ही इन्हीं पर था।[7] ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण की भांति उन्हे भी वेदाध्ययन, यज्ञ करने तथा दान देने के अधिकार प्राप्त थे। अतः ब्राह्मण और क्षत्रियों से निम्न समझे जाने पर भी वे समाज के आधार होने के कारण महत्वपूर्ण स्थिति में थे। यद्यपि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण अन्य वर्णों पर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने में कोई कसर नहीं छोड़े हुये थे।[8] तथापि वैश्य वर्ण को धार्मिक व्यवहार में समान स्तर पर स्वीकार करना पड़ा। ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हें मोक्ष के अधिकारी नहीं समझते थे।[9] इस वर्ण में सीमित विवाह और पैतृक व्यवसाय

---

1. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 576, 578।*
2. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 583।*
3. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ० 23-24।*
4. *डॉ० विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० 106।*
5. *शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति, पृ० 120।*
6. *लाभकर्म तथा रत्नं गवां च परिपालनम् ।*
   कृषिकर्म च वाणिज्यं वैश्य वृत्तिरूदाहृता।। पराशर स्मृति : आचार काण्ड-1, श्लोक 63।
7. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ० 24।*
8. *डॉ० आर० सी० मजूमदार, दत्ता व राय चौधरी : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 46।*
   रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 57।
9. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृ० 11।*

स्थापित थे।[1] उनमें शिक्षा और विद्वता का नितान्त अभाव था।[2] यही कारण था कि समाज के मेरुदण्ड होते हुये वे ब्राह्मण और क्षत्रियों से निम्न समझे जाते थे।

वर्ण व्यवस्था में समाज का चतुर्थ वर्ण शूद्र कहलाता था। ये संख्या में अन्य वर्णों की अपेक्षा बड़ा था । सभी विजित दास, उपेक्षित तथा हीन समझे जाने वाले व्यवसायी, एवं अनार्य, शूद्र माने जाते थे।[3] ऐसे समुदाय एवं जातियां जो प्रथम तीन वर्णों में सम्मिलित नहीं किये थे तथा विदेश से आने वाली कुछ नयी जातियों को भी इसी वर्ण में सम्मिलित माना जाता था।[4] चारों वर्णों में शूद्र सबसे अधिक हीन और दयनीय समझे जाते थे। उनकी आर्थिक, सामाजिक,राजनीतिक तथा धार्मिक सभी प्रकार की स्थिति निम्नतम् मानी जाती थी।[5] क्षत्रिय या राजा के मुकाबले में शूद्र का कुछ भी अधिकार अपने धन, सम्पत्ति या प्राण के विषय में न था।[6] उनका मूल कर्त्तव्य द्विजातीय की सेवा करना था। इसके बदले में उन्हें अपने भरण-पोषण के लिये उन वर्गों की उदारता पर निर्भर रहना पड़ता था। उन्हें समाज में निम्नतम रखने के लिये उन पर अनेक प्रतिबन्ध स्थापित कर दिये गये थे। उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उन्हें सम्पत्ति का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। मुनस्मृति में कहा गया है कि शूद्र को धन का संग्रह नहीं करना चाहिये। समर्थ होने पर भी धन संचय नहीं करना चाहिये।[7] शूद्र वेदाध्ययन तथा यज्ञ के अधिकारों से वंचित थे। उन्हें मोक्ष का अधिकार नहीं था। वे धनुष विद्या प्राप्त नहीं कर सकते थे। न्याय में भी उनके साथ पक्षपात किया जाता था। अन्य वर्णों की अपेक्षा उन्हें शूद्र होने के नाते अधिक कड़ा दण्ड दिया जाता था। इतना ही नहीं वे चार आश्रमों में से केवल ग्रहस्थ आश्रम का ही उपभोग करने के अधिकारी थे।[8] इन्हीं सब प्रतिबन्धों के कारण वे सम्पूर्ण समाज के सेवक समझे जाते थे। उनकी भूमि

---

1. *डॉ0 विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ0 103।*
2. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृ0 16।*
3. *डॉ0 विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ0 58, 103, 109, 121।*
4. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ0 590।*
5. *डॉ0 विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ0 116।*
6. *डा0 राधा कुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ0 96।*
7. *शक्तेनापि हिं शूद्रेणि न कार्यो धन संग्रह।*
   शूद्रा हि धनमासाद्य ब्राम्हणनेव बाधते।। मनुस्मृति : अध्याय 1, श्लोक 129।
8. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृ0 11।*
   हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ0 586, 588।

से उन्हें कभी भी वंचित किया जा सकता था।[1] उनकी शिक्षा-दीक्षा का भी कोई प्रबन्ध नहीं था।[2] यद्यपि ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य अपने से निम्न जातियों की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे, परन्तु शूद्रों को अपनी ही जाति में विवाह करने का आदेश था।[3] वास्तव में यह वर्ग मूल रूप में असंस्कृत मस्तिष्कों का था जिसमें न तो ब्राम्हणों का सा ज्ञान और बुद्धिमानी थी, न क्षत्रियों का सा तेज था, और न वैश्यों की सी सम्पत्ति उपार्जन करने की शक्ति थी।[4]

वर्ण व्यवस्था को अधिक दृढ़ और नियोजित करने के लिये समाज में आश्रम व्यवस्था भी प्रचलित थी। ये व्यक्तियों के जीवन को आदर्शमयी बनाने में महत्वपूर्ण समझी जाती थीं, ताकि जीवन के किसी अंग के विकास की अवहेलना न हो।[5] जीवन की एकरूपता में आयु की अनुकूलता और विविधता के सौन्दर्य का समावेश करने के लिये मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था। ये चार भाग जीवन के आश्रम कहलाने लगे। ये चार आश्रम ब्रम्हचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास थे। ऐसा विश्वास किया जाता था कि समाज की उन्नति इन चार आश्रमों पर निर्भर थी।

ब्रम्हचर्य आश्रम जीवन का प्रथम पर्व था, इसे जीवन के प्रासाद की नींव माना जाता था। इसमें 25 वर्ष की आयु तक रहना होता था। सात या आठ वर्ष की अवस्था में लड़के का उपनयन संस्कार द्वारा इस आश्रम में प्रवेश होता था।[6] गुरु सेवा ही उसका परम धर्म होता था।[7] लेकिन धीरे-धीरे गुरु के घर जाकर विद्यार्जन की परम्परा दृढ़ नहीं रही और केवल उपनयन संस्कार ही महत्पूर्ण रूप से शेष रह गया था।[8]

ग्रहस्थ-आश्रम जीवन का दूसरा पर्व था। ब्रम्हचर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित गृहस्थ-आश्रम मानवीय जीवन की कृतार्थता की प्रमुख पीठ था। गुरु को गुरु दक्षिणा देकर तथा शिक्षा समाप्त करके वह इस आश्रम में प्रवेश करता था। इसमें व्यक्ति विवाह करके अपनी जीविका

1. *कैलाश चन्द्र जैन : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, पृ0 33-34।*
2. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ0 24।*
3. *बी0 एन0 लूनिया : प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास, पृ0 85।*
4. *सुख सम्पतराय भ्सण्डारी : भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव, पृ0 61।*
5. *भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, पृ0 53।*
6. *डा0 सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ0 586।*
7. *हरिभाऊ उपाध्याय : भागवत धर्म, पृ0 368।*
8. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ0 199, 201।*

की खोज में निकलता था। बहुधा वह पैतृक व्यवसाय ही अपना लेता था।[1] ये आश्रम सांसारिक सुखों के उपभोग, सन्तान उत्पत्ति तथा विविध कर्तव्यों के पालन हेतु था। इस अवस्था में मनुष्य विवाह करके सन्तानों की देखभाल, भरण-पोषण तथा आर्थोपार्जन में मन लगाता था। परिवार एवं समाज के प्रति विभिन्न कर्तव्यों का पालन भी इस आश्रम की विशेषता थी।[2] प्राणियों की रक्षा और यज्ञ करना ग्रहस्थ आश्रम के मुख्य धर्म थे।

गृहस्थ-आश्रम में 25 वर्ष बिता कर मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य ग्रहस्थी का भार अपने पुत्रों पर छोड़कर सांसारिक जीवन से विरक्त हो जाता था और वह वन न जाकर अपना समय एकान्त में त्याग, तपस्या एवं साधना में व्यतीत करता था। इस आश्रम में भी मनुष्य 25 वर्ष व्यतीत करता था। जिसकी समाप्ति पर वह सन्यास आश्रम को ग्रहण कर लेता था। यह जीवन की अन्तिम अवस्था मानी जाती थी। सन्यास आश्रम में मनुष्य अपनी कुटी छोड़कर परिव्राजक बन जाता था। इस काल में वह संसार के सभी बन्धनों से मुक्त होकर अपना सारा समय आध्यात्मिक चिन्तन एवं लोक-कल्याण में लगाता था। इस आश्रम का लक्ष्य ब्रह्म का चिन्तन और मोक्ष की प्राप्ति था।[3] उसे जो कुछ भिक्षा में मिल जाता था, उसी से अपना जीवकोपार्जन करता था। इस आश्रम में व्यक्ति का मूल ध्येय समाधि लगाकर ईश्वर में निर्लिप्त रहना और मोक्ष की आकांक्षा करना था।

वर्ण एवं आश्रम दोनों ही व्यवस्थायें अपने अस्तित्व के लिये एक अन्य संस्था पर आधारित थी। ये संस्था परिवार थी। पिता परिवार का मुखिया होता था। उसका परिवारीजनों पर कठोर नियंत्रण रहता था। उसकी आज्ञा ही परिवार के नियम माने जाते थे।[4] पारिवारिक स्नेह, गुरुजनों का आदर सत्य, दान, त्याग, मैत्री, पवित्रता, सरलता आदि का अभ्यास मनुष्य को परिवार में ही प्राप्त होता था। संयुक्त परिवार प्रणाली का इस समय प्रचलन था। इसमें सभी लोग परस्पर स्नेह, पारिवारिक सहयोग, शील तथा आज्ञापालन के वातावरण में ढले हुये थे।[5] माता-पिता की सेवा करना, आचार्यों एवं गुरुओं के आदर की भावना परिवार की

---

1. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 51।*
2. *डा0 सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ0 587।*
3. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 51।*
4. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ0 22 व 23।*
5. *वाचस्पति गैरोला : भारतीय संस्कृति और कला, पृ0 209।*

आधारशिला थी। परिवार का प्रत्येक सदस्य चारित्रिक शुद्धता को पारिवारिक जीवन की प्रमुख आवश्यकता समझा करता था।[1] परिवार में रहकर व्यक्ति कुप्रवृत्तियों को दबाना एवं सद्वृत्तियों की अभिव्यंजना करना सीखता था। परिवार के सभी सदस्यों में पिता के बाद ज्येष्ठ पुत्र का महत्व होता था लेकिन संयुक्त परिवार व्यवस्था में कहीं-कहीं विघटन के चिन्ह भी दिखाई दे रहे थे। जो व्यापारिक और औद्योगिक उन्नति के कारण प्रथक सम्पत्ति रखने की भावना से प्रेरित थे। अब व्यक्ति अंकुश और नियन्त्रण से मुक्त होकर व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के लिये अपना पृथक परिवार रखने के प्रयत्न में भी थे। लेकिन संयुक्त परिवार की आधारशिला अभी भी टूटने नहीं पाई थी और परिवार की मर्यादायें और मान्यतायें अक्षुण्ण रहीं।

कृष्ण के प्रादुर्भाव से पूर्व समाज की आधारशिला विवाह की निश्चित पद्धतियां नहीं थीं। विवाह के अनेकों स्वरूप प्रचलित थे। यह पद्धतियां ब्रम्ह, देव, आर्षि, प्रजापति, असुर, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच थी।[2] इस समय के समाज में विवाह के नियम दृढ़ नहीं थे। बाल विवाह और सम्पन्न आयु विवाह दोनों ही प्रचलित थे। कन्या के विवाह के लिये बहुधा 6 से 10 वर्ष तक उपयुक्त मानी जाती थी।[3] इस काल में बहुपत्नी विवाह सामान्य परम्परा थी। साधन सम्पन्न व्यक्तियों को बहुपत्नी विवाह के अधिकार थे।[4] कतिपय जातियों में बहुपति विवाह प्रथा भी प्रचलित थी। लेकिन यह पति विभिन्न कुटुम्ब के न होकर एक ही कुटुम्ब के सगे भाई होते थे।[5] साधारणतयः विवाह एक ही जाति अथवा वर्ण में सम्पन्न होते थे।[6] परन्तु अन्र्तजातीय विवाह के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।[7] विधवा पुन-र्विवाह की भी चर्चा मिलती है।[8] परन्तु उसे अच्छा नहीं माना जाता था। इस काल में वैवाहिक जीवन सन्तोषप्रद एवं सुखमय था।[9] इसका एक प्रमाण यह है कि असमर्थ पति की पत्नी समर्थ पुरुष के संसर्ग से

---

1. *डा0 हर गुलाल : मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ0 70।*
2. *डा0 देवीदत्त शुक्ल : महाभारत मीमांसा, पृ0 75।*
3. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ0 28।*
4. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ0 228।*
5. *डा0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ0 75।*
6. *श्री नेत्र पाण्डेय : भारत वर्ष का सम्पूर्ण इतिहास, पृ064-65।*
7. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 61।*
8. *डॉ0 विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ0 156-160।*
9. *डा0 हर गुलाल : मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ0 215।*

सन्तान उत्पन्न कर सकती थी। इस प्रथा को नियोग कहा जाता था। यह कार्य पत्नी परिवार के सदस्यों की सहमति से ही करती थी।[1] समाज में विवाहित की स्थिति सम्माननीय मानी जाती थी। अविवाहित पुरुषों को यज्ञ आदि कार्य हेतु अयोग्य समझा जाता था। राजकीय परिवारों में विवाह के लिये स्वयंबर की प्रथा प्रचलित थी, जिसमें स्त्री को अपना पति चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती थी। यह परम्परा विशेष रूप से दृढ़ रक्षक वर ढूंढ़ने के लिये अपनायी गयी थी।[2] विवाहोपलक्ष्य में भेंट, उपहार एवं दहेज देने की प्रथा थी। इसमें दास और दासियों तक को प्रदान करने के विवरण मिलते हैं।[3] समाज में विवाह धार्मिक अनुष्ठान के रूप में मान्यता प्राप्त था। यह सामाजिक नैतिकता और मर्यादाओं का मूल आधार था।

कृष्ण के प्रादुर्भाव के पूर्व नारी के प्राचीन मान-सम्मान तथा गौरव में ह्रास हो रहा था। अब वह समाज में सम्पत्ति के रूप में समझी जाने लगी थी। महाभारत काल तो उसे जुयें में गंवाने और सभा भवन में सबके सम्मुख निवस्त्र करने का प्रयास उसकी हेय एवं असमर्थ स्थिति का जीवन्त उदाहरण है।[4] कृष्ण के जन्म से पूर्व स्त्रियों के अपहरण की अनेकों घटनायें उसको पुरुष की सम्पत्ति होना प्रमाणित करती हैं। काशी के राजा की पुत्रियाँ अम्बिका और अम्बालिका को भीष्म रथ में बिठाकर बलपूर्वक हस्तिनापुर ले आये थे। काशीराज की सबसे बड़ी कन्या 'अम्बा' पहले ही राजा शाल्व को अपना पति मान चुकी थी। भीष्मपितामह को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने अम्बा को राजा शाल्व के यहां पहुंचा दिया। इस पर भीष्म ने उन्हें मुक्त कर उसके प्रेमी के पास भेज दिया किन्तु उसके प्रेमी राजा शाल्व ने भी उसे ठुकरा दिया। भीष्म विवाह न करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध थे। अतः उन्होंने भी स्वीकार नहीं किया।[5] इस प्रकार एक स्त्री इधर-उधर भटकती रही और समाज ने उसकी रक्षा अथवा संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की। ये स्त्रियों की असहाय एवं दयनीय स्थिति को दिग्दर्शित करने के लिये पर्याप्त साक्ष्य हैं। राजवंश तथा सम्पन्न परिवारों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी।

---

1. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ0 29 व 30।*
2. *रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : पृ0 198।*
3. *डा0 कामलेश्वरनाथ मिश्र : महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनायें, पृ0 151।*
4. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृ0 91*
5. *परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषुवा पुनः ।*
   यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथचंन।। आदि पर्व : अध्याय 103, श्लोक 15।

इससे स्त्रियों का जीवन अत्यधिक कष्टमय हो जाता था।[1] उन्हें सहपत्नियों की प्रतिद्वन्दिता का सामना करना पड़ता था। पटरानी अथवा मुख्य पत्नी का अत्यधिक सम्मान होता था जबकि अन्य पत्नियां उपेक्षित रहती थी।[2] बहु पत्नी परिवार में इस प्रकार स्त्रियों का जीवन बड़ा कलहपूर्ण हो गया था। बहुपत्नी प्रथा के अतिरिक्त विधवाओं के पुनर्विवाह की व्यवस्था न होने[3] तथा सती होने की परम्पराओं[4] ने उनके जीवन को दारुण दुःख में डाल दिया था। स्त्री एवं पुरुष की समानता की भावना का लोप होगया था। केवल पुरुषों को ही उत्तराधिकार प्राप्त था। स्त्रियां उत्तराधिकार से वंचित रखीं गयी थीं। इस प्रकार उनकों राजनैतिक सत्ता से पूर्ण वंचित रखा गया।[5] ज्ञानार्जन के क्षेत्र में भी वे अब पुरुषों से पीछे छूट चुकी थी। वे परिषदों अथवा सभाओं में प्रवेश नहीं कर सकती थीं। धार्मिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी पर उनसे वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं कराया जाता था।[6]

यह धारणा दृढ़ हो गयी थी कि स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार नहीं है।[7] आर्थिक क्षेत्र में भी उनके अधिकार सीमित थे। वे चल अथवा अचल सम्पत्ति की स्वामिनी नहीं हो सकती थीं।[8] इस सब प्रतिबन्धों और परम्पराओं के अतिरिक्त पर्दा व्यवस्था[9] ने भी स्त्रियों को सामाजिक दमन में बहुत योगदान दिया। कुछ स्त्रियां शरीर का व्यवसाय भी करती थीं, जिन्हें गणिका कहा जाता था। इससे विदित होता है कि स्त्रियों की दशा हीन होती जा रही थी।[10] इस सब कारणों से बालिकाओं का जन्म दुखदायी माना जाता था।[11]

पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का सामाजिक जीवन निम्न हो चुका था फिर भी

---

1. *डा० सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ० 589।*
2. *डॉ० आर० सी० मजूमदार, दत्ता व राय चौधरी : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 186।*
3. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 606-607।*
4. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृ० 8।*
5. *पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 62।*
6. *डा० सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ० 589।*
   भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, पृ० 54।
7. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृ० 8।*
8. *डा० सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ० 589।*
9. *बी० एन० लूनिया : प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास, पृ० 85।*
10. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ० 30।*
11. *डॉ० आर० सी० मजूमदार, दत्ता व राय चौधरी : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 45।*

स्त्रियों को इस युग में भी पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। वैवाहिक जीवन में स्त्रियों को पुरुष की सहधर्मिणी माना जाता था तथा पति-पत्नी दोनों ही कतिपय प्रतिज्ञायें करते थे जिनका प्रयोजन एक-दूसरे के प्रति कर्तव्यों का पालन करते रहना होता था। वे गृह की स्वामिनी समझी जाती थी। उसे लोकापवाद का भय बना रहता था, कुल की मर्यादा, आर्य धर्म का अनुसरण एवं गुरुजनों की लाज निभाना उसका प्राथमिक कर्तव्य समझा जाता था।[1] स्त्रियों में पतिव्रत के सम्बन्ध में उस समय भी वे ही भाव थे जो आज हैं।[2] सतीत्व धर्म उस समय हिन्दू समाज का आधार था। अपने वैवाहिक जीवन में वह पतिव्रता के उच्च आदर्शों का पालन करती थी।[3] अपनी सामाजिक सीमाओं में बंधी होने के बावजूद स्त्रियां उस काल में विदुषी और शिक्षित होती थीं। अपनी विद्वता के कारण ही बहुत सी स्त्रियां ऋषि तथा ब्रम्हवादिनी तक बन जाती थीं। गृहों तथा आश्रमों में बालक-बालिकाओं को साथ-साथ शिक्षा दी जाती थी।[4] उन्हें नृत्य तथा संगीत का नियमित अभ्यास कराने की भी व्यवस्थायें थीं।[5]

कृष्ण के प्रादुर्भाव से पूर्व कतिपय अन्य सामाजिक परिस्थितियों का परिचय भी अनिवार्य है क्योंकि वे भी कम महत्व की नहीं हैं। ये व्यक्तियों का खानपान, वेशभूषा, मनोरंजन तथा सौन्दर्य प्रसाधन के साधन हैं। इस समय व्यक्ति का खानपान सरल एवं प्रायः शाकाहारी था। प्रायः लोग गाय के दूध, घी का सेवन करते थे।[6] अन्न प्रमुख भोजन था तथा मांस का परित्याग करने की प्रवृत्ति थी। ब्राम्हणों के लिये इसका निषेध हो गया था[7] परन्तु मांस खाना घृणा की दृष्टि से देखे जाने पर भी प्रचलन में था। पक्षियों में मयूर एवं कुक्कुट, जल-जन्तुओं में मछली का मांस खाया जाता था। नर मांस खाने की प्रवृत्ति केवल राक्षसों में ही थी। मदिरा पान भी उस समय प्रचलित था। इसे सुरा, मदिरा एवं मद्र की संज्ञा दी जाती थी। पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियां भी सुरा पान करती थीं।[8]

---

1. *डा० हर गुलाल : मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ० 220-25।*
2. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृ० 8।*
3. *बी० एन० लूनिया : प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास, पृ० 85।*
4. *डा० हर गुलाल : मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ० 116।*
5. *बी० एन० लूनिया : प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास, पृ० 85।*
6. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ० 259।*
7. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ० 246।*
8. *परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ० 26-27।*

स्त्री-पुरुष नाना प्रकार के परिधान धारण करते थे। पुरुष शरीर के मध्य भाग में धोती बांधते थे, जिसका एक छोर कमर में लपेट लिया जाता था और लांघ पीछे खोंस ली जाती थी। धोती के साथ दुपट्टे, कमरबन्द पटके और पगड़ियां पहनते थे। स्त्रियां भी पुरुषों की तरह धोतियां पहनती थी। उस समय धोती घुटनों तक बांधी जाती थी। साड़ी भारी भरकम करधनी और कमरबन्द से बंधी होती थी। इस कमरबन्द से फुदकनेदार किनारे एक ओर चमकते रहते थे।[1] स्त्री-पुरुष विभिन्न सूती, ऊनी परिधान पहनते थे।

तत्कालीन समाज सौन्दर्य-प्रसाधन, आभूषण व साजसज्जा पर पर्याप्त ध्यान देता था। स्त्री पुरुष दोनों ही विभिन्न अंगों में आभूषण पहनते थे। सभी अंगों के विविध प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे। केश विन्यास एवं अंगराग के नानाविध प्रयोग समाज की अभिरुचि के द्योतक थे।[2] स्त्रियां अपने शरीर को अनेकों प्रकार की सुन्दर आकृतियों से अलंकृत किया करती थीं। चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य और मालाओं का प्रचुर मात्रा में प्रचलन था। गन्ध द्रव्यों का तो इतना अधिक प्रचलन था कि बच्चों को भी माता-पिता इन्हीं द्रव्यों से स्नान कराते थे। पुरुष भी अपनी साज-सज्जा में नारियों से पीछे नहीं थे। वे अपने बालों व दाढ़ी की सेवा बड़ी सजगता से करते थे। इन पर भांति-भांति के द्रव्य प्रदार्थ लगाये जाते थे।[3]

उस समय मनोरंजन के विभिन्न साधन प्रचलित थे जो व्यक्तियों की अभिरुचियों की ओर संकेत करते हैं। नाटक का खेल मनोरंजन का प्रधान साधन था। नृत्य और संगीत, पशुपालन तथा मल्लयुद्ध मनोरंजन के साधन थे, द्यूत-क्रीड़ा भी मनोरंजन का साधन मानी जाती थीं। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक विचार विमर्श, नृत्य, संगीत एवं द्युत आदि के नियमित स्थान नगरों में स्थापित थे। हास्य-विनोद आदि की गोष्ठियां भी हुआ करती थीं। उनमें लोकरंजन करने वाले उत्सव होते रहते थे। उनमें से इन्द्रध्वज का उत्सव पर्याप्त लोकप्रिय था।[4] उन दिनों बालिकाओं के लिये मालायें गूंथने, मिट्टी के घरौंदे बनाने, गुड़ियों से खेलना व लुका-छिपी के खेल लोकप्रिय थे। काव्यकला गोष्ठियां विभिन्न प्रतियोगितायें तथा

---

1. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ0 626।*
2. *वाचस्पति गैरोला : भारतीय संस्कृति और कला, पृ0 26, 211।*
3. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ0 625।*
4. *परितोष कुमार सिकदार : प्राचीन भारत एवं अरब, पृ0 25।*

घुड़दौड़, आखेट द्वारा भी मनोरंजन समाज में प्रचलित था।[1]

आर्थिक परिस्थिति :

कृष्ण के जन्म से पूर्व देश सम्पन्न और समृद्ध था। शासन व्यवस्थायें कृषि, व्यापार तथा उद्योग की उन्नति हेतु प्रयत्नशील रहती थीं।[2] राजा स्वयं कृषकों का ध्यान रखते थे। कृषि की रक्षा करने के लिये निर्लोभ तथा कुलीन पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे। कृषि की उन्नति को शासक अपन कर्तव्य समझता था। उद्योगों की उन्नति एवं सुरक्षा के लिये विविध व्यवसाय वालों ने अपने निजी संगठन भी बना लिये थे। जो निगम, संघ, श्रेणी, पूठा, निकाय आदि थे। प्रत्येक निगम का एक प्रधान अध्यक्ष होता था जो प्रमुख तथा जेष्ठक कहलाता था। विभिन्न निगमों के सदस्यों की संख्या पृथक-पृथक होती थी। व्यापारियों के निकाय अपने-अपने व्यवसायों के संरक्षण एवं परिवर्धन के प्रति सचेष्ट रहते थे। निकायों के अपने नियम थे। जिन्हें राजा भी वैध मानता था, और उनका सम्मान करता था।[3]

कृषि जनता का मूल व्यवसाय था।[4] दूर-दूर के जंगलों को काट कर कृषि योग्य बनाया गया। हल के माप एवं रूप में भी बड़े परिवर्तन किये गये। खाद के प्रयोग से अपनी उपज की वृद्धि का कृषकों को पूर्ण परिचय था।[5] गेहूं, चावल के अतिरिक्त फल, शाक और तरकारियों का उत्पादन होता था।[6] कृषि का कार्य प्रायः समस्त जातियां करती थीं।[7] वृहद हलों के प्रयोग से कृषि का व्यवसाय न केवल समुन्नति हो गया बल्कि वह सर्वाधिक आदर की दृष्टि से देखा जाता था।[8]

---

1. *वाचस्पति गैरोला : भारतीय संस्कृति और कला, पृ0 210।*
2. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ0 386।*
3. *कृष्णदत्त बाजपेयी : उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 23-24।*
4. *डा0 रतिभान सिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 95।*
   राधा कुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ0 96।
5. *भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, पृ0 55।*
6. *सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ0 190।*
7. *कृष्णदत्त बाजपेयी : उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 21-22।*
8. *डा0 सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, पृ0 59।*

कृषि के अतिरिक्त अन्य अनेक व्यवसाय भी थे। पशुपालन लोकप्रिय तथा लाभप्रद व्यवसाय था। बड़ी संख्या में गायों को रखना वैभव एवं ऐश्वर्य का प्रतीक था। तत्कालीन नरेश विद्वानों का सम्मान गायों का दान करके करते थे। गौ-पालन की परम्परा थी। पशुधन मुख्य समझा जाता था, क्योंकि यह खेती व व्यापार में वस्तुओं के इधर-उधर ले जाने में मूल रूप से उपयोगी होता था। पशुपालन के अतिरिक्त वस्त्र उद्योग, रथ निर्माण उद्योग, स्वर्णकार रज्जुकार, जुलाहे, गायक, रजक, रंगसाज, रसोईया, कुम्हार, नर्तक, कलाबाज, चिड़ीमार, डलिया बनाने वाले, महावत आदि के व्यवसाय भी सामान्य व्यवसाय थे। ज्योतिषी, वैद्य और नाई का व्यवसाय निम्न माना जाता था। धनुष बनाने वाले, धनुष की तान बनाने वाले, तीर बनाने वाले भी अलग-अलग व्यवसायी थे।[1] रुपया उधार देने का भी व्यवसाय चलता था, जिसके लिये कसीद और कुसिदिन शब्दों का प्रयोग होता था।[2] 10 रुपये देकर 11 रुपये उगाहने की प्रथा थी। ऋण जिस मास में देय होता था उसके आधार पर ऋण का नाम रखा जाता था।[3]

आय का साधन पारिश्रमिक अथवा क्रय-विक्रय था। कुछ लोग वेतन से जीवकोपार्जन करते थे जैसे राजकीय कर्मचारी, कुछ पारिश्रमिक लेकर काम करते थे, जैसे कर्मकार, कुछ व्यापार में क्रय-विक्रय के द्वारा।[4] व्यापारी तीन प्रकार के थे, प्रथम जो एक स्थान या दूकान पर बैठकर अपना माल बेंचा करते थे, दूसरे वे जो एक स्थान से दूसरे-दूसरे स्थान तक व्यापारिक माल ले जाते थे, तीसरे प्रकार के व्यापारी समुद्री व्यापार करते थे। भारतीय व्यापारी स्वदेश और विदेश के बन्दरगाहों में बहुत दूर-दूर तक के स्थानों की यात्रा किया करते थे।[5] उद्योग धन्धों में स्त्रियां भी विशेष योगदान देती थीं, जैसे रंगने वाली (रज्यती), सुईकारी का काम करने वाली या कसीदा काढ़ने वाली (पेशस्कारी), बांस का काम करने वाली (काष्ठ की कारी) और बेंत की टोकरी बनाने वाली (विदलकारी) आदि।[6]

---

1. *डॉ० आर० सी० मजूमदार, दत्ता व राय चौधरी : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 47।*
2. *कैलाश चन्द्र जैन : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, पृ० 223।*
3. *राधा कुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ० 123।*
4. *राधा कुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ० 122।*
5. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पृ० 533, 532, 530।*
6. *राधा कुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ० 97।*

राजा व्याज पर द्रव्य देकर विभिन्न व्यवसायों को राजकीय प्रोत्साहन व संरक्षण प्रदान करता था। भूमिकर के रूप में उपज का छठा भाग लिया जाता था। न्याय विभाग से भी राज्य की पर्याप्त आय होती थी।[1] इसके अतिरिक्त राजा जनता से बलि वसूल करता थ। इसका मूलतः प्रभाव वैश्यों और शूद्रों पर पड़ता था, क्योंकि ब्राम्हण इससे मुक्त थे। राजा सभी प्रकार के व्यवसायों से कर के रूप में पदार्थ व वस्तुयें वसूल करता था। अनेक राजकीय अधिकारियों की नियुक्तियां इसी उद्देश्य के लिये की जाती थीं। 'मागदुध' नामक अधिकारी 'बलि' वसूल करने के लिये नियुक्त किया जाता था। निःसन्देह राजस्व वसूल करने की नियमित राजकीय व्यवस्था थी।[2] अनेक प्रकार के उद्योग धन्धे उन्नति के शिखर पर थे।

अनेक धातुओं यथा सोना, चांदी, जस्ता, शीशा, लोहा, तांबा इत्यादि का प्रयोग होता था।[3] स्वर्ण और रजत के आभूषण और बर्तन बनाये जाते थे। स्वर्ण नदियों की तलहटी, भूमि के भीतर से या कच्चे मिलावट के सोने को गलाकर निकाला जाता था।[4] लोहे से फौलाद बनाने की कला से भी जनता परिचित थी। इसका प्रयोग नख काटने की छोटी सी नरहनी से लेकर तलवार तक धारदार हथियारों के निर्माण में किया जाता था। रत्न और मोती भारत में बहुतायत में पाये जाते थे। वस्त्र निर्माण कला उच्चतम स्तर पर थी। अतिशय सूक्ष्म वस्तु बनाने की कला विकसित हो चुकी थी। ऊन और रेशम के कपड़े बनाये जाते थे। इन वस्त्रों की रंगने की कला का विकास कभी दृष्टिगोचर होता है। ये रंग बहुधा वनस्पतियों से निर्मित किये थे।[5]

कृष्ण के प्रादुर्भाव से पूर्व देश की आर्थिक दशा पर्याप्त रूप से समृद्ध थी। सभी प्रकार के व्यवसाय विकसित थे। कृषि, पशुपालन व व्यापार को राजकीय संरक्षण प्राप्त होने के कारण उनकी स्थिति विकास के पथ पर थी। मन्दिरों और विशाल भवनों के निर्माण के विवरणों से प्रतीत होता है कि देश में शिल्पकला और भवन निर्माण कला की उत्कृष्टता आर्थिक सम्पन्नता पर ही निर्भर थी।

---

1. *डॉ० रामजी उपाध्याय : भारत की प्राचीन संस्कृति, पृ० 89, 381।*
2. *कैलाश चन्द्र जैन : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, पृ० 258।*
3. *राधा कुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ० 98।*
   राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ० 56।
4. *भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, पृ० 56।*
   डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 189।
5. *राय बहादुर : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ० 371, 372।*

।। कृष्ण का जन्म तथा बाल्यावस्था ।।

अध्याय तृतीय

।। कृष्ण का जन्म तथा बाल्यावस्था ।।

कृष्ण के माता-पिता तथा उनके आचार-विचार :

कृष्ण के जन्म तथा बाल्यावस्था की परिस्थितियाँ बहुत रोचक हैं। कंसकालीन आततायी युग में कृष्ण का जन्म युगान्तरकारी घटना थी। उनका जन्म राजनैतिक अनीतियों, कुण्ठाओं और महात्वाकाँक्षाओं के वातावरण में हुआ। जन्म के पूर्व ही एक ओर उनकी सुरक्षा के प्रयासों की चिन्ता तथा दूसरी ओर उनके संहार के प्रपंचों की तीव्रता, सतर्कता व भयातुर चिन्ता उनके जन्म समय से ही शंकाओं का घेरा डाले दृष्टिगोचर होती है। जन्म होते ही जिस चातुर्य से मृत्यु की छाया से उनकी मुक्ति व रक्षा संभव हुई तथा उनके जीवन के विरुद्ध कंस द्वारा किये गये सभी प्रारम्भिक षडयन्त्र विफल हुये। वे उनके व्यक्तित्व को प्रारम्भ से ही आकर्षण केन्द्र बना देते हैं। उन्होंने जिस बालोचित विलक्षण प्रतिभा से अपनी सतत् रक्षा की वह उनके जन्म की परिस्थितियों और बाल्यावस्था को अनूठे रहस्यों व आकर्षण से निबद्ध कर देती है। कृष्ण के पिता वासुदेव क्षत्रिय वर्ण की यादव शाखा के एक पूर्वज सूर के पुत्र थे।[1] वे अपने पिता की सबसे बड़ी सन्तान थे।[2]

तत्कालीन परम्पराओ के अनुकूल वासुदेव के अनकों पत्नियाँ थीं। पौरवी, रोहिणी, मद्रा, मदिरा, रोचना, इला, देवकी आदि प्रमुख थीं। रोहिणी के गर्भ से बलदेव, गद, सारण, दुमद, विपुल, ध्रुव और कृतादि पुत्र हुये। पौरवी के गर्भ से समुद्र, मद्रवाह, दुभद, मद्र तथा भूत आदि बारह पुत्र हुये। मदिरा के गर्भ से नन्द, सर्पमन्द, कुतक, और सूरादि पुत्र हुये। मद्रा के गर्भ से केशी नाम का एक प्रतापी पुत्र हुआ।

---

1. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत, पृष्ठ 40।*
2. *डॉ0 आर0 सी0 मजूमदार (मुख्य सम्पादक)*
   : दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल (दि वैदिक ऐज) खण्ड 1, पृष्ठ 301।

रोचना के गर्भ से हस्त, हेमांगद, आदि पुत्र हुये। इला के गर्भ पुरु, बल्कादि बहुत से पुत्र पैदा हुये। घृतदेवा के गर्भ से विपृष्ट और शान्तिदेवा के गर्भ से श्रुत, प्रतिश्रुत आदि पुत्र हुये। उपदेवा के गर्भ से राजा कल्प, वर्ष आदि दस पुत्र हुये। श्री देवा के गर्भ से वसु, हंस, सुवंश आदि छः पुत्र तथा देवराधिका के गर्भ से गद् आदि नौ पुत्र उत्पन्न हुये सहदेवा के गर्भ से पुरु, विश्रुत मुस्थ आठ श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुये। देवकी के गर्भ से कीर्तिमान, सुषेण, भद्रसेन, कजु, समर्दन, मद्र एवं महीश्वर भगवान संकर्षण, कृष्ण आठ पुत्र हुये तथा सुभद्रा नाम की कन्या भी हुयी।[1] देवकी मथुरा के राजा उग्रसेन की भतीजी थी। वह अन्धक के आठवें उत्तराधिकारी आहुक के पुत्र तथा उग्रसेन के भाई देवका की पुत्री थी।[2] वह कंस की बहिन थी। इन्हीं वसुदेव देवकी से कृष्ण का जन्म हुआ।[3]

कृष्ण मुख्यतः गौ पालन का कार्य करते थे तथा महाबन में निवास करते थे।[4] उनके पास बहुत अधिक गायें थीं। एक निश्चित कर लेकर ये गायें अहीरों को सौंप दी जाती थीं। विशाल गौ समुदाय के स्वामी होने के अतिरिक्त वे मथुरा के आस-पास के भी स्वामी थे। वे भोज राजा के माण्डलिक भी थे।[5] यमुना नदी के पार गोवर्धन पर्वत उनका व्यक्तिगत जागीर थी। गोपालन मुख्य व्यवसाय होने के कारण ये गोप कहलाते थे। अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के कारण वे अग्रणीय नेता बन गये थे।[6] वे एक सूर योद्धा और न्यायप्रिय पुरुष थे। अपनी धर्म निष्ठा के कारण सब यादवों के बीच वे पूज्य माने जाते थे।[7] सभी गोप उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते थे। वे अत्यधिक बुद्धिमान, व्यवहार कुशल तथा संकटपूर्ण परिस्थितियों में निर्भीक रहते थे।

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, सम्पा० श्री दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 9, अध्याय 24 : पृष्ठ 43-44।*
2. *वही : पृष्ठ 43।*
3. *गोविन्दकृष्ण पिल्ले : ट्रैडीशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया (ए डाइजेस्ट), पृष्ठ 23।*
4. *श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्यामदास : पृष्ठ 588।*
5. *कि० ध० मशरुवाला : राम और कृष्ण : पृष्ठ 68।*
6. *मु०सम्पा० डॉ० आर० सी० मजूमदार :*
   दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल (दि वैदिक ऐज) खण्ड 1, पृष्ठ 302।
   कल्याण (गीता अंक) 1950, कृष्ण का संक्षिप्त लीला चरित्र : श्री निवासाचार्य जी द्विवेदी : पृष्ठ 214-15।
7. *वही : पृष्ठ 214-15।*

वासुदेव साधन-सम्पन्न और लोकप्रिय यादव नेता थे। उन्होने अपनी बुद्धिमत्ता व निर्भीकता[1] का परिचय अपनी पत्नी देवकी पर उसके भाई कंस द्वारा उत्पन्न संकट से छुटकारा प्रदान करने में दिया। देवकी के आठवें पुत्र द्वारा अपनी मृत्यु की भविष्यवाणी से आतंकित हो कंस अपनी बहिन को मारने पर व्याकुल हो गया था। वासुदेव ने प्रशंसा, भय, भेद नीति से कंस को समझाकर उसे हत्या से रोका तथा ये वचन भी दिया कि वह देवकी की सन्तान को उत्पन्न होते ही उसको सौंप देगा।[2] इस वचन को उन्होंने पूर्ण रूपेण निभाया।[3] इस प्रकार राजनैतिक संकट में होने पर भी उन्होने अपनी प्रतिज्ञा का पालन करके सम्पूर्ण समाज में प्रतिज्ञा-पालक पालक का यश प्राप्त कर लिया लेकिन पितृ हृदय कहाँ तक अपनी सन्तान का वध अपने ही समक्ष सहन कर पाता। अतः उन्होंने अपनी आठवीं सन्तान कृष्ण का जन्म होते ही कूटनीति का सहारा लेकर सुरक्षित अपने मित्र के पास पहुँचाना अनुचित न समझा।[4] इस तरह राजनैतिक अत्याचारों के समक्ष अपनी वचनबद्धता तथा कूटनीति का एक विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया।

वासुदेव इतने महत्वपूर्ण तथा साधन-सम्पन्न नेता थे कि कंस उनका वध करने से पीछे हट गया।[5] उन्हें केवल बन्दी ही बनाया गया।[6] अपने कारावास के अन्तराल उन्होंने न केवल अपनी आठवीं सन्तान की सुरक्षा की व्यवस्था की बल्कि अपनी दूसरी पत्नी रोहिणी को पूर्ण सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया।[7] कई अन्य पत्नियों को भी वसुदेव ने मथुरा से अन्यत्र भेज दिया।[8] अत्यन्त संकटपूर्ण परिस्थितियों में भी जो मित्रतापूर्ण सहायता उन्हें एक अहीर नेता नन्द[9] से प्राप्त हुई, यह वासुदेव की लोकप्रियता का उदाहरण है।

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० श्री दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री : बृहद दशवां स्कन्ध, अध्याय 1 : पृष्ठ 42-43।*
2. *वही : पृष्ठ 42-43*
3. *वही : पृष्ठ 43*
4. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० श्री दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री : दशवां स्कन्ध, अध्याय 3 : पृष्ठ 48।*
5. *कि० घ० मशरुवाला : राम और कृष्ण, पृष्ठ 70।*
6. *वही : पृष्ठ 69।*
7. *घनश्यामदास जालोन : श्री कृष्ण, पृष्ठ 6।*
8. *जगन्नाथ प्रसाद : कृष्ण चरित्र, पृष्ठ 120।*
9. *गोविन्द कृष्ण पिल्लै : ट्रैडीसनल हिस्ट्री आफ इण्डिया (ए डाइजेस्ट), पृष्ठ 123।*
   श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 5 : पृष्ठ 52

वासुदेव दर्शन और चिन्तन से पूर्णरूपेण भिज्ञ थे। कंस को इस प्रकार समझाना कि वह देवकी की हत्या के अपने निर्णय से विचलित हो सके, उनके दर्शनिक ज्ञान की पूर्णता को परिलक्षित करता है। उन्होंने कंस को समझाते हुये कहा-'मृत्यु तो जन्म के साथ पैदा होती है। वह ध्रुव सत्य है। आज नहीं तो सौ वर्ष बाद तो मरना ही होगा.........इस देह के नष्ट हो जाने पर यदि पुनः दूसरे देह की प्राप्ति न होती तो पाप कर लेना संगत भी होता...... ....आत्मा तो नित्य है इस देह के नष्ट होने पर तत्क्षण वह दूसरे देह को प्राप्त कर लेता है। सत्य तो यह है कि जैसे चलने वाला व्यक्ति एक पग आगे जमाकर दूसरा पग हटाता है और जैसे जोंक अगले तृण को पकड़कर ही पिछले तृण को छोड़ता है उसी तरह आत्मा भी दूसरे शरीर को प्राप्त कर ही पहले शरीर का परित्याग करती है। प्राणी जाग्रत अवस्था में जो कुछ देखता, सुनता है उसका संस्कार उसके मन पर जम जाता है। अतः बार-बार उसी के सोचते रहने से स्वप्न भी वही देखता है तथा सोचने लगता है कि मैं वही हूँ, और तब उसे जागृत देह की याद भी नहीं आती। उसी तरह आत्मा भी देहान्तर को प्राप्त कर पहले देह को छोड़ देती है। मृत्यु के समय प्राणी जिस किसी देवादि योनि का स्मरण करता है वह मरकर उसी योनि को प्राप्त हो जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि हवा के झोंके से कभी हिलते-डुलते नहीं किन्तु जल में पड़े उनके प्रतिबिम्ब के हिलते-डुलने से वह भी हिलते-डुलते प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार प्राणी अविद्या के गुणों में आसक्त होने के नाते अपने स्वरूप को नहीं पहचानता और मृत्यु से डरने लगता है।[1] कंस द्वारा अपनी तथा देवकी की पूर्ण मुक्ति से कहे गये उद्‌गार भी उनके दार्शनिक ज्ञान को परिलक्षित करते हैं। ''प्राणियों को देह आदि में आत्म बुद्धि, अज्ञान से ही उत्पन्न होती है। जिस अहं बुद्धि से अपना-पराया, यह भेद-दृष्टि होती है वह भेद-दृष्टि रखने वाले जो लोग शोक, हर्ष, भय, लोमाभिमान से युक्त हैं वे लोग दैत्यादि निमित्त मूल पदार्थ से देव दैत्यादि रूप पदार्थ को परस्पर मार रहे कालरूपी परमेश्वर को नहीं देख पाते बल्कि अपने को ही मरने-मारने वाला समझते हैं।[2]

---

1. *श्रीमद्‌भागवत भाषा टीका : सम्पा0 दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 1 : पृष्ठ 43 ।*
2. *श्रीमद्‌भागवत भाषा टीका : सम्पा0 दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 4 : पृष्ठ 50 ।*

वासुदेव अत्यन्त व्यवहारिक भी थे। देवकी पर आये हुये संकट को टालने को लिए उन्होंने तत्क्षण विचार कर लिया कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को इसे दे देने का वचन दे इस द्विविधा को छुड़ा लेना चाहिये। जब पुत्र होंगे तब देखा जायेगा हो सकता है कि तब तक कंस की मृत्यु ही हो जाये और यदि वह स्वयं न भी मरा तो मेरे पुत्रों के हाथों से मारा जायेगा।'' कंस को विश्वास दिलाने के लिये उन्होने हंसते हुये कहा-''आपको देवकी से तो कोई डर नहीं, डर तो इसके पुत्रों से है सो उन पुत्रों को आपके हवाले कर दूँगा।''[1] कारागार में बन्द होने पर भी वे हाथ रखकर नहीं बैठे रहे बल्कि अपनी आठवीं सन्तान को घोर वर्षा की परवाह न करते हुये किसी प्रकार कारागार से मुक्त करके गोकुल पहुँचाने में सफल रहे।[2] इसे उन्होंने अत्यन्त गोपनीय बनाये रखा था।[3]

कृष्ण के जन्म की परिस्थितियाँ :-

कंस के कुशासन के कारण मथुरा की राजनीति में आया परिवर्तन भी कृष्ण के जन्म की परिस्थितियों में एक प्रमुख कारक था। कंस ने अपने धर्म परायण पिता मथुरा के शासक उग्रसेन को भी कारागार में बन्द कर रखा था और स्वयं स्वेच्छाचारी शासक बन बैठा था।[4] प्रजा में उसका विरोध करने का साहस नहीं रह गया था।[5] जिन्होंने उसका विरोध किया वे उसकी क्रूरता के शिकार हुये। कुछ ने भागकर कुरु, पांचाल, कैकय, शाल्व, विदर्भ, निषद्ध, विदेह और कौशल आदि में शरण ली। कुछ ने अनुकूल समय आने तक अपनी भावनायें गुप्त रखी तथा कुछ लोग कंस की नीतियों में सहमति व्यक्त कर वहीं रहने लगे तथा कुछ ने नये प्रदेशों में पराक्रम प्रदर्शित करके स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली।[6]

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 1 : पृष्ठ 43 ।*
2. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 3 : पृष्ठ 48 ।*
   डी० डी० कौशाम्बी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, एक ऐतिहासिक रूपरेखा, पृष्ठ 145
3. *कि० घ० मशरुवाला : राम और कृष्ण, पृष्ठ 71।*
4. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 1 : पृष्ठ 44 एवं अध्याय 2, पृ० 44।*
5. *के० मित्रा : सचित्र भागवत, पृष्ठ 95।*
6. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 2 : पृष्ठ 44।*

वसुदेव, देवकी के विवाह के पश्चात कंस उन्हें रथ में बिठाकर ले जा रहा था तभी देवकी की आठवीं सन्तान से अपनी मृत्यु होने की जानकारी से विचलित होकर वह अपनी रक्षा का स्थायी उपाय खोजने लगा।[1]

उसे देवकी की प्रत्येक सन्तान अपना काल दिखायी देने लगी।[2] अतः अपनी मृत्यु के भय से उसने वासुदेव और देवकी को बन्दीगृह में रख दिया।[3] कंस अपनी रक्षा के लिये तथा देवकी की आठवीं सन्तान के संहार के लिये व्याकुल था।[4] देवकी वासुदेव इस सन्तान की प्राणरक्षा के लिये आतुर थे।[5] कारागार की कठोर बन्धनपूर्ण परिस्थितियों में ही आठवीं सन्तान के रूप में भद्रपद कृष्ण अष्टमी, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र में कृष्ण का जन्म हुआ।[6] इस प्रकार कंस की मृत्यु की भविष्यवाणी कृष्ण के जन्म की मुख्य एवं विषम परिस्थिति बन गयी।

राजनैतिक वैमनष्य के अन्तर्गत कृष्ण का जन्म अर्द्धरात्रि को प्राकृतिक झंझावतों के मध्य हुआ। प्रकृति के रौद्र रूप ने उसके जन्म की परिस्थितियों को और भी गंभीर बना दिया। उनके प्राणरक्षा की चिन्ता अत्याधिक जटिल हो गई लेकिन वासुदेव के प्रयत्नों से प्रारंम्भिक बाधायें दूर हो गई। कारागार के द्वार पर द्वारपाल तथा नगर निवासी प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न थे। वासुदेव नवजात शिशु कृष्ण को लेकर गोकुल के लिये चल पड़े परन्तु धीरे-धीरे गरजते हुये मेघ झमाझम बरसने लगा और घोर वर्षा के कारण यमुना में अथाह जल उमड़ पड़ा। भयंकर सैकड़ों भंवर पड़ रहे थे।[7]

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 1 : पृष्ठ 42 ।*
2. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 1 : पृष्ठ 44 ।*
3. *महाभारत वर्ष 4, संख्या 5, पूर्णसंख्या 41, वैशाख 2016, मई 1949 : पृष्ठ 620 ।*
4. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 2 : पृष्ठ 45 ।*
5. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 3 : पृष्ठ 47-48 ।*
   कृष्ण संदेश (पत्रिका) : सम्पा० व्यथित हृदय : पृष्ठ 3 ।
6. *कृष्ण संदेश (पत्रिका) : सम्पा० व्यथित हृदय : पृष्ठ 2 : अंक 1, 1968 ।*
   महाभारत वर्ष 4 संख्या 5, पूर्ण संख्या 41, वैशाख 2016 मई 1959 : पृष्ठ 618 एवं 619 ।
7. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 3 : पृष्ठ 48 ।*

इस प्रकार के दुरूह प्राकृतिक वातावरण में वासुदेव तनिक भी न डिगे और रात्रि में ही जब सारे ग्वाल प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न थे वे नन्द के घर पहुँच गये, यशोदा की शैया पर अपने पुत्र को लिटाकर उनकी कन्या लेकर पुनः मथुरा लौट पड़े। कन्या को देवकी के पास लिटा दिया। कोई भी इस रहस्य को न जान सका और वे आठवीं सन्तान की प्राणरक्षा में सफल रहे। कंस ने पुत्री के जन्म का संदेश पाकर उसे भी मारने की प्रयास किया परन्तु शीघ्र ही अपने पिछले कृत्यों पर पश्चाताप करते हुये[1] देवकी व वसुदेव को भी मुक्त कर दिया तथा अपने सम्भावित संहारक की खोज में लग गया। इस प्रकार कृष्ण के जन्म के साथ ही साथ वासुदेव और देवकी की भी कारागार से मुक्ति प्राप्त हो गई।

कृष्ण के बालनेता के रूप में राजनीतिक विचार :-

कृष्ण का लालन-पालन नन्द और यशोदा के पुत्र रूप में हुआ। उनका प्रारंम्भिक जीवन एक गोप कुमार के रूप में व्यतीत हुआ। मामा कंस से बचाने के लिये उसे गोकुल (गोपालकों के कम्यून) में पाला गया था। इस स्थानान्तरण ने उसे उन धनवानों से भी जोड़ दिया.....जो आधुनिक अहीर जाति के पूर्वज हैं।[2] बाल्यावस्था में ही उन्होंने नेतृत्व के असाधारण गुणों का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया था। कृष्ण बृज के सब ग्वाल-बाल, गायें और गोपियों, के केन्द्र बन गये थे। नन्द के घर होने वाली कृष्ण विषयक प्रत्येक बात व प्रत्येक घटना सारे बृज में व्याप्त हो जाती थी।[3] यह सब उनके बाल नेतृत्व के प्रमाण के परिणामस्वरूप ही था।

कृष्ण के बाल नेतृत्व की अभिव्यक्ति उनके संगीत, नृत्य, गौचारण, खेल-कूद, मल्लयुद्ध आदि विभिन्न आयोजनों के संगठन द्वारा परिलक्षित होती है। अपनी मुरली के मधुर संगीत से उन्होंने न केवल अपने साथियों को संगठन में बाँधे रखा बल्कि मूक पशु गायों को भी एक सूत्रता में बाँधे रखकर भटकने नहीं दिया। वेणु ध्वनि कृष्ण के मुख से निकलकर जिस दिशा को जाती धेनु आदि सभी वस्तुओं को कृष्ण की ओर आकर्षित कर

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 4 : पृष्ठ 49।*
2. *डी० डी० कौशाम्बी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, एक ऐतिहासिक रूपरेखा, पृष्ठ 145*
3. *डा० जगदीश गुप्ता : कृष्ण भक्ति काव्य : पृष्ठ 162-163 ।*

देती थीं।[1] सभी ग्वाल बाल उनके संगीत को श्रवण करने के लिये उनके आस-पास एकत्रित हो जाते थे।[2] इस प्रकार अपने संगीत के आकर्षण द्वारा कृष्ण ने अपने साथियों का अद्‌भुत संगठन कर लिया था। संगीत के साथ बालोचित नृत्य के माध्यम से भी कृष्ण ने अपने हम उम्र साथियों में एकता तथा संगठन बनाया। वे बलराम तथा सखाओं के साथ-साथ सामूहिक नृत्य में संलग्न हो जाते थे।[3] नृत्य क्रीड़ाओं से सभी गोप सखाओं में एक दूसरे को समझने तथा हिल मिल कर काम करने की भावना बलवती होती थी।

अनेकों असुरों यथा पूतना-वध, तृणावर्त-वध की अलौकिक घटनायें, गौचारण, संगीत, नृत्य, खेल-कूद, मल्लयुद्ध सभी परिस्थितियों में अपने साथियों में अग्रणीय होने के कारण वे बृज मण्डल के बाल नेता बन गये थे। छाछ बिलोने में, बछड़ों को चराने में, पशुओं की खोज में निकलने में, गोप कुमारों की रक्षा करने में, उन पर किसी भी प्रकार के भय का प्रसंग आने पर अपने को संकट में डालकर उन्हें बचा लेने में भी वे सदा सबसे आगे ही रहते थे। उन्होंने अपनी शक्ति से दो बार गोपों को दावानल से बचाया और अतिवृष्टि से उनकी रक्षा की। उनको अपनी वीरता से भय रहित बनाया। उनके अलौकिक कृत्यों ने बड़ी पीढ़ी को भी कृष्ण की बुद्धि पर विश्वास करने के लिये प्रभावित किया।[4] उनके सुझाव से ही उन्होंने इन्द्र की पूजा बन्द करके गायों और गोवर्धन की पूजा प्रारम्भ कर दी। बाल्यावस्था की सीमाओं से अधिक अस्वाभाविक और रहस्यमयी चेष्टाओं तथा परोपकारी वृत्ति के कारण ही उनके बाल स्वरूप को नेतृत्व का अधिकार प्राप्त हो गया और वे बृज समुदाय में बाल नेता स्वीकार कर लिये गये। श्री डी०डी० कौशम्बी जैसे विद्वान उनके बाल व्यक्तित्व से भ्रमित हो उन्हें व्यंगात्मक शैली में 'बहुरूपी देवता' और 'बेमेल' कहकर पुकार बैठते हैं।[5] जबकि वे यथार्थ में समाज के सच्चे दिशा-निर्देशक थे।[6]

---

1. श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्री श्यामदास : पृष्ठ 46-47 ।
   पण्डित रामनरायण दत्त शास्त्री : महाभारत, गीता प्रेस : पृष्ठ 799-800 ।
2. श्रीमद्‌भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 21 : पृष्ठ 88-89।
3. श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्री श्यामदास : पृष्ठ 257-258 ।
4. कि० घ० मशरुवाला : राम और कृष्ण, पृष्ठ 75।
5. डी० डी० कौशाम्बीः प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यताः एक ऐतिहासिक रूप रेखा, पृष्ठ 144।
6. के० एस० रामचन्द्रन : महाभारत मिथ एण्ड रियलिटी डिंफ्रेन्स..........पृष्ठ 6।

जब कृष्ण सात वर्ष के हुये तब गौओं की रखवाली के योग्य समझे गये।[1] कृष्ण की माता ने फिर भी सब प्रकार की सावधानी बरतते हुये बलराम तथा गोपों को समझाते हुये पर्याप्त निर्देश भी दिये कि बलराम कृष्ण के आगे रहें वत्स सुबल उनके पीछे रहें, श्रीदामा व सुदामा उनके अगल-बगल रहें तथा अन्य बालक उनके चारों ओर[2] लेकिन कृष्ण माता सुलभ भय के विपरीत असाधारण साहस व जोखिम उठाकर खतरों से जूझने वाले सिद्ध हुये। गौचारण के काल में उन्होंने अल्प आयु होने पर भी असाधारण वीरता के कार्य करके अपने साथियों का असीम विश्वास प्राप्त कर लिया। हर संकट में उन्हें कृष्ण उद्धारक प्रतीत होने लगे। अघासुर, कालयवनमर्दन, धेनुक वध, प्रलम्बासुर वध, व्योभासुर वध के अद्वितीय कारनामों से उन्होंने अपने सभी गोप सखाओं को अपने स्वाभाविक नेतृत्व में बाँध लिया।[3] बालक वासुदेव ने गौओं की रक्षा के लिये एक सप्ताह तक गोवर्धन पर्वत को अपने हाथ पर उठा रखा तदन्तर श्री कृष्ण ने पशुओं के हित की कामना से वृषभ रूपधारी अरिष्ट नामक दैत्य को वेग पूर्वक मार गिराया।[4] उसने इन्द्र से गौ धन की रक्षा की और अनेक मुँह वाले विषधर कालिय नाग को जिसने मथुरा के पास यमुना के एक सुविधाजनक ढबरे तक जाने का मार्ग रोक दिया था मर्दन करके खदेड़ दिया।[5] गौचारण के मध्य ही खेल-कूद के माध्यम से उन्होंने अपने साथियों में जर्बदस्त संगठन स्थापित किया। आँख-मिचौनी, लुका-छिपी, चोर आदि खेलों के अतिरिक्त कृत्रिम राजसिंहासन के नाटकीय खेलों[6] के माध्यम से उन्होंने संगठन के साथ-साथ अपने मित्रों को राजनीति की भी जानकारी प्रदान की। इस तरह कृष्ण ने गौ चराकर बृज के सभी बालकों का संगठन किया।

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० श्री दौलतराम गौड़ : पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 15 : पृष्ठ 75*
2. *श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्री श्यामदास : पृष्ठ 298 ।*
3. *महाभारत (गीता प्रेस) फरवरी 1957 : पृष्ठ 3128, 3130 ।*
4. *महाभारत, संख्या 7 वर्ष 4 आषाढ़-2016, जुलाई 1959 : पृष्ठ 980 ।*
   महाभारत, संख्या 11 वर्ष 3 भाद्रपद-2015, सित० 1958 : पृष्ठ 180 ।
   महाभारत : पण्डित रामनारायण दत्त शास्त्री (गीता प्रेस) : पृष्ठ 801 ।
5. *डी० डी० कौशाम्बी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता : एक एतिहासिक रूपरेखा, पृष्ठ 145-147 ।*
6. *पण्डित रामनारायण दत्त शास्त्री, महाभारत : (गीता प्रेस) : पृष्ठ 800 ।*

सभी गोप कृष्ण की आज्ञा मानने लगे। प्रारम्भ से ही छोटे-छोटे संगठन बनाकर अपनी राजनीति को उभारा साथ ही बृजवासियों को जो कष्ट दे रहे थे उनका संहार करके जन कल्याण और प्रेममयी भावना का प्रदर्शन किया।[1]

मल्लयुद्ध और खेल-कूद में गोप किशोरों के मध्य अभिन्न मैत्री और ऐक्य स्थापित किया। मल्लयुद्ध में उन्होंने सभी गोपों को अत्याधिक निपुण बना दिया था। गोचारण तथा अन्य अवकाश के समय में कृष्ण अपने गोप बन्धुओं के साथ मल्ल युद्ध क्रीड़ा का अभ्यास करते थे।[2] शारीरिक शक्ति के साथ-साथ किशोर पैतरेबाजी में योग्य हो गये थे। श्रीदामा आदि से कृष्ण और बलराम का मल्लयुद्ध हुआ करता था। वे दोनों भ्रामण, लघंन, निक्षेप, आस्फोटन एवं आकर्षण आदि क्रियाओं द्वारा वक्षस्थल मिलाकर मल्लयुद्ध किया करते थे। कभी-कभी कृष्ण उत्सुक होकर उनकी परीक्षा करने के लिये अत्यन्त कठिन ताल लेकर निर्णायक बन जाते थे।[3] यह बाल्यकालीन मल्ल विद्या के प्रशिक्षण का ही परिणाम था कि बालक स्वरूप दृष्टिगोचर होने पर भी ऐसे दांवपेंच चलाये कि मल्ल विद्या-निपुण मुष्टिक एवं चारूण चारो खाने चित्त हो गये।[4]

कृष्ण के खेल-कूद भी बहुत प्रशिक्षणात्मक होते थे, जिनसे उनके साथियों में और अधिक संगठन का विकास होता था। राजसिंहासन के खेल में एक पक्ष में कृष्ण राजा एवं श्रीस्त्रो कृष्ण के प्रधानमंत्री बनते तथा दूसरे पक्ष में बलराम राजा और सुबल उनके मंत्री बनते। श्रीदामा एवं मद्र किसी स्थान पर निवास, किसी स्थान पर युद्ध तथा यात्रा, कहीं परस्पर बिम्बफल, कुंम वृक्षफल, कभी हाथों में आमल के फलों को लेकर मारने, कभी हंसते हुये मृगों की भाँति चेष्टा करते तो कभी पक्षी गणों के शब्दों का एवं मेंढकों की गति का अनुकरण करते हुये क्रीड़ायें करने लगते, पीछे से आकर दूसरे सखा के नेत्रों को हाथों से बन्द

---

1. *पण्डित रामनारायण दत्त शास्त्री, महाभारत : (गीता प्रेस) : पृष्ठ 3129 ।*
2. *कल्याण (गीता अंक) 1950 : पृष्ठ 217 ।*
3. *श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्री श्यामदास : पृष्ठ 391-392 ।*
4. *महाभारत : संख्या 5, वर्ष 4, वैशाख-2016, मई 1959 : पृष्ठ 1062 ।*
   महाभारत : संख्या 11, वर्ष 3, माद्रपद-2015, सित0 1958 : पृष्ठ 180 ।
   कल्याण (गीता प्रेस) : अगस्त 1975 : पृष्ठ 365 ।
   महाभारत : टीकाकार पण्डित रामनारायण दत्त शास्त्री : पृष्ठ 801।

करने वाले बालक जिसे अस्पर्शी कहा जाता था, उस बालक का स्पर्श या पकड़ने के लिये तथा नेत्रों का आवरण खोलने के लिये कृष्ण ने राज्यपदपीठ एवं सिंहपीठ आदि खेलों का प्रारम्भ किया था।[1] कभी वे अपने बड़े भाई बलराम से जोर-जोर से वाद-विवाद करके सभी सखाओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षत कर लेते थे लेकिन जैसे ही सखा निकट आते थे दोनों जोर-जोर से हँसने लगते थे। वे विभिन्न पक्षियों की बोलियाँ अत्याधिक निपुणता के साथ निकालने में दक्ष थे। कभी-कभी वह भयंकर पशुओं की बोली बोलकर अपने साथियों को डरा दिया करते थे। कभी-कभी उनके अनुरोध पर एक साथ विभिन्न प्रकार के पक्षियों की बोलियाँ बोलने लगते थे।[2] कभी वे आपस में ही भेड़ रखने वाले और चोर बन जाते थे।[3] इस प्रकार उनके खेल अधिकांशतः रक्षात्मक एवं आक्रमक प्रशिक्षण के अथवा सामान्य मनोरंजनार्थ होते थे। दोनों ही प्रकार के खेलों से किशोर पीढ़ी में संगठन की भावना उत्पन्न हो गयी थी क्योंकि खेलों की भित्ति पारस्परिक सहयोग एवं संगठन ही होती है।[4]

कृष्ण ने कुछ धार्मिक मान्यताओं को परिवर्तित करके भी सामाजिक सुधार किये। बृज में सभी प्रति वर्ष इन्द्र जी पूजा करते थे। उन्हें ये पूजा आडम्बर व अवास्तविक लगी इसलिये उसका विरोध करके[5] उन्होंने गोवर्द्धन[6] गायों व गोप-पूजा का उन सबकी उपयोगिता बताते हुये आह्वान किया।[7] इस प्रकार धार्मिक परम्पराओं को भी व्यावहारिक व उपयोगी बनाकर उन्होंने समाज में नवीन चेतना स्थापित करके सुधार किये।

कृष्ण ने समाज में व्याप्त अनेकों स्थानीय देवी-देवताओं की मान्यताओं के आडंम्बर को झकझोड़ दिया। सर्वप्रथम उन्होंने मातृ देवी को वश में किया। बचपन में ही उसने पूतना नामक एक मातृदेवी (बाद में चेचक की देवी) का वध कर डाला था परन्तु इसमें सर्वांगीण सफलता नहीं मिली क्योंकि मथुरा के एक भाग में उसका प्रभाव बना रहा जो पूतना

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 15 : पृष्ठ 76, अध्याय 18 : पृष्ठ 83 ।*
2. *कल्याण, वर्ष 27, अंक 7, जुलाई 1953 : पृष्ठ 1135-1139 ।*
3. *घनश्याम दास जालान : श्रीकृष्ण : पृष्ठ 36 ।*
4. *डा0 सुधा चतुर्वेदी : हिन्दी कृष्ण काव्य : पृष्ठ 119-120 ।*
5. *श्री श्यामदास : श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू), पृष्ठ 725 ।*
6. *सूरजमल मोहता : भागवत कथा : पृष्ठ 271-272 ।*
7. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्ध 10, अध्याय 22 : पृष्ठ 95।*

का नाम धारण किये रहा। इसी प्रकार पवित्र तुलसी का द्योतक देवी वृन्दावन (समूह देवी) को भी उन्हीं के प्रभाव के कारण मथुरा से थोड़ी दूर नदी के किनारे वृन्दावन नामक कुंज में स्थायी रूप से स्थानान्तरित कर दिया। ''आज भी प्रतिवर्ष एक निश्चित दिन कृष्ण के साथ ब्याह रचाया जाता है प्रतिवर्ष इस आयोजन पुनरावृत्ति से विदित होता है कि इस देवी के मानव रूप पति की बलि चढ़ाने की प्रारंभ में प्रथा थी परन्तु कृष्ण ने इस पृथा का तोड़ डाला''[1] वास्तव में कृष्ण पशु रक्षक एवं कृषि जीवन के प्रणेता थे, इसलिये उन्होंने अनगिनत स्थानीय देवियों जिनकी पूजा पशुचारी कबीले किया करते थे, विरोध किया और उन पर सफलता प्राप्त की। इस देवीय कबीलों पर प्राप्त सफलता को उत्तरकाल में सुमीते से कृष्ण की पत्नियां बना दिया गया।[2] जरासन्ध जैसे शासक से उनके विरोध का एक कारण उसके द्वारा की जाने वाली सौ शासकों की संभावित बलि भी था।[3] उन्होंने धर्म से पशु अथवा नरबलि की घृणित परम्परा को तोड़कर स्वस्थ धर्म की स्थापना का प्रयास किया।

कृष्ण ने पूतना, तृणावत, मृद मदाण-राक्षस, वृत्तासुर, गर्दभासुर, प्रलम्बासुर, दावानल, रूप प्रलय, शंख चूर्ण वध, कैशी दैत्य आदि का वध करके जो व्यक्तिगत वीरता और साहस के प्रमाण प्रस्तुत किये उनसे ब्रजवासियों के भय को ही दूर नहीं किया[4] बल्कि सबको साहसी व निर्भीक बनने का अनिवार्य मन्त्र फूँक दिया। गौचरण के माध्यम से गोपों को प्रेम व संगठन की शिक्षा देकर ग्वाल समाज का सुधार किया। आपस में ही जो राजा, सेनापति, प्रधानमंत्री के रूप में युद्ध की तैयारी व रक्षा की शिक्षा उन्होंने प्रदान की उससे शासन सम्बन्धी ज्ञान के अतिरिक्त शक्ति परीक्षण का समुचित ज्ञान कराके[5] उनकी वास्तविक शक्ति में उन्होंने महत्वपूर्ण प्रगति की। अपनी ही शक्ति पर विश्वास करना तथा दूसरे की शक्ति पर निर्भर न रहने [6] तथा अतिशय अत्याचारी व पापी का कोई कार्य सुखदायक नहीं होता[7] इस प्रकार की शिक्षायें देकर कृष्ण ने दया के स्थान पर दया तथा अत्याचारी के स्थान पर उसके

---

1. *डी0 डी0 कौशाम्बी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता : एक एतिहासिक रूपरेखा, पृष्ठ 146।*
2. *डी0 डी0 कौशाम्बी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता : एक एतिहासिक रूपरेखा, पृष्ठ 148-149।*
3. *महाभारत : संख्या 2, मार्ग शीर्ष-2012, दिसम्बर 1955 : पृष्ठ 729।*
4. *श्यामदास : श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : पृष्ठ 329 ।*
5. *श्यामदास : श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : पृष्ठ 391-394 ।*
6. *श्यामदास : श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : पृष्ठ 793 ।*
7. *श्यामदास : श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : पृष्ठ 776 ।*

संहार का वृत्ति उत्पन्न करके[1] समाज को आत्मनिर्भर व अत्याचारों से जूझने के समर्थ बनने की प्रेरणा प्रदान की।

बाल नेता के रूप में ही कृष्ण ने ब्रजवासियों में आत्मविश्वास, साहस एवं वीरता का संचार किया। अपने साथियों में संगठन, व्यवहार कुशलता व संकट के समय आत्मरक्षा अथवा आक्रमकता का प्रशिक्षण दिया। अपने कृत्यों के माध्यम से उन्होंने नारी जागरण भी किया। बृज में उस समय नारियों में निवृस्त्र स्नान की दूषित व असभ्य प्रवृत्ति थी।[2] उन्होंने इसे समाप्त करने के लिये तथा नारी समाज को शालीन, शिष्ट व लज्जायुक्त आचरण करने के लिये उनके वस्त्र हरण द्वारा उन्हें शिक्षित किया। समाज में शोभनीय आचरण करने की प्रवृत्ति स्थापित करके कृष्ण ने महत्वपूर्ण नारी जागरण का कार्य किया।[3] जो स्त्रियां सार्वजनिक स्थानों पर नग्न स्नान करती थीं, उनमें वस्त्र चीर्य के माध्यम से शिष्ट आचरण करने की जागृति उत्पन्न की।[4] जहां उसके चीर हरण का कृत्य नारी जागरण का एक मुख्य अंग था वहीं वह सामाजिक सुधार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। रासलीला के माध्यम से श्रीकृष्ण ने नारी में जहां आत्म विश्वास व आत्म निर्भरता की जागृति उत्पन्न की, वहीं स्त्रियों को अपने पति, बन्धु-बान्धवों की सेवा तथा अपनी सन्तान की परिचर्या कराना ही स्त्रियों का परम धर्म बताकर उनमें पारस्परिक प्रेम की वृद्धि की। उन्होंने उन्हें पति से कभी विमुख न होने की शिक्षा प्रदान की। पर-पुरुष का चिन्तन स्त्रियों के लिये निन्दनीय बताया। उनका कहना था कि इससे परलोक बिगड़ता है।[5] इस प्रकार नारी जागरण के साथ-साथ सामाजिक संवर्द्धन की प्रवृत्ति उनके कृत्यों से निरन्तर परिलक्षित होती है।

इस प्रकार बाल नेता के रूप में कृष्ण ने अनेकों सुधारों के लिये मार्ग प्रशस्त किया तथा एक ऐसे नवीन समाज की संरचना की दिशा प्रदर्शित की जो आततायियों का सामना करने के लिये प्रत्येक दृष्टिकोण से सक्षम है।

---

1. *डॉ0 हरवंशलाल शर्मा : भागवत दर्शन : पृष्ठ 98।*
2. *श्रीभागवत भाषा टीका : सम्पा0 श्री दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, अध्याय 22 पृष्ठ 91-91।*
3. *श्री सत्यनारायण पाण्डेय : कृष्ण काव्य की परम्परा : पृष्ठ 10।*
4. *कल्याण (कृष्ण अंक), 1953 : पृष्ठ 35।*
5. *सूरजमल मोहता : भागवत कथा : पृष्ठ 256।*

।। कृष्ण के विचारों की आधारशिला ।।

सत्य, न्याय एवं धर्म

अध्याय चतुर्थ

।। कृष्ण के विचारों की आधारशिला ।।

सत्य, न्याय एवं धर्म

धर्म शब्द का अर्थ :

'धर्म' शब्द का अर्थ बहुत ही विविध और व्यापक है। एक ही निश्चित और सीमित अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं होता। एक ही 'धर्म' शब्द भाषा और विचार की परम्परा में अनेक अर्थों का वाचक बन गया है। इनमें कुछ अर्थ अधिक व्यापक हैं और कुछ कम, कुछ अर्थ सामान्य हैं और कुछ विशेष। 'धर्म' शब्द का सबसे व्यापक अर्थ उसके व्याकरणगत मूल धातु 'धृ' पर आश्रित है। 'धृ' का अर्थ धारण करना है।[1] 'धृ' धातु से निर्मित होने के कारण 'धर्म' का अर्थ 'धारण करने वाला' है। जो धारण करता है, वही 'धर्म' है।[2] धर्म से अभिप्राय उन गुणों अथवा लक्षणों से है, जो किसी वस्तु के स्वरूप को धारण करते है। धारण करने का अर्थ अपनाना, पालन करना और बनाये रखना है। योग दर्शन में एक ही विषय में चित्त की स्थिरता को 'धारणा' कहते हैं।[3] यथा "ये मेरी धारणा है।" "धारणा" के सभी प्रयोगों में स्थिरता का भाव पाया जाता है। स्थिरता का अभिप्राय एक निश्चित रूप के बने रहने से है। स्वरूप की स्थिरता का अभिप्राय एक निश्चित रूप के बने रहने से है। स्वरूप की स्थिरता का निर्वहण अथवा सरंक्षण 'धारणा' का मुख्य लक्ष्य है।

---

1. *राधाकृष्णन : हिन्दुओं का जीवन दर्शन, पृष्ठ 74।*
   राधाकृष्णन : रिलीजन एण्ड सोसाईटी, पृष्ठ 107।
2. *देशबन्धः चित्तस्य धारणा-योगसूत्र-3-1।*
3. *धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।*
   यः स्याद धारणसंययुक्तः स धर्म इति निश्चयः।। शा० प० : अध्याय 109, श्लोक 11।

महाभारत में धारणा के आधार पर ही धर्म की परिभाषा की गयी है और धर्म को प्रजा का धारण करने वाला कहा गया है। धर्म की परिभाषा बताते हुये भीष्म जी युधिष्ठिर से कहा कि ''प्राणियों'' के अभ्युदय और कल्याण के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयश सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का निश्चय है।''[1] धर्म शब्द की दूसरी परिभाषा भीष्म जी ने इस प्रकार बताई कि ''धर्म का नाम 'धर्म' इसलिये पड़ा कि वह सबको धारण करता है अर्थात् अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है। जो प्रजा के धारण से संयुक्त है, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है।''[2]

पश्चिमी परम्परा के सीमित धर्म-सम्प्रदायों के लिये 'रिलीजन' के पर्याय के रूप में भी धर्म शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। प्रायः धर्म का अभिप्राय ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म आदि से समझा जाता है। मनुष्यों के समाज इनको धारण करते हैं तथा ये धर्म अपने अनुयायियों के इसाई मुसलमान आदि रूप को सुरक्षित बनाते हैं, इस अर्थ में तो ये भी धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन धर्मों के प्रचारक इस अर्थ में इनको सार्वभौम मानवीय धर्म भी मानते हैं कि अपने धर्म 'साम्प्रदायों' को छोड़कर सभी वर्ग के लोग इन धर्मों में सम्मिलित हो सकते हैं। धर्म के प्रचार-प्रसार को इन धर्मों में एक पवित्र कर्त्तव्य माना जाता है। दूसरों को धर्म परिवर्तन के लिये विवश करने के लिये इन धर्मों के अनुयायियों ने छल-बल का भी प्रयोग किया। इनके धर्म प्रचार में अनेक अनर्थ हुये हैं।

'धर्म' का ऐसा रूप जिसका प्रचार करना पड़े अथाव जिसके प्रचार में अनर्थ उत्पन्न हो तथा जो समाज को विरुद्ध वर्गों में विभाजित कर दे, अपने को मानवीय मानते हुये भी अमानवीय बन जाता है।

---

1. *प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।*
   यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।। शा० प० : अध्याय 109, श्लोक 10।
2. *धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।*
   यः स्याद धारणसंययुक्तः स धर्म इति निश्चयः।। शा० प० : अध्याय 109, श्लोक 11।

हिन्दू धर्म के इसी उदार रूप का संकेत करते हुये डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है कि हिन्दू धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है बल्कि उन सबों का भ्रातृमण्डल है जो सत् नियमों को मानते हैं और निष्ठापूर्वक सत्य की खोज करते हैं।[1]

महाभारत में जिसे धर्म कहा गया है, वह 'रिलीजन' से भिन्न है। धर्म शास्त्रों का धर्म एक उदार, मानवीय और सार्वभौम धर्म है। याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन को परम धर्म कहा है। याज्ञवल्क्य के अनुसार आत्मदर्शन को धर्म का समान सिद्धान्त कह सकते हैं। देवल ने इस आत्मभाव का निरूपण व्यवहार की प्रतिकूलता एवं अनुकूलता के द्वारा किया है। उनके अनुसार जो व्यवहार हमारे प्रतिकूल है, वह व्यवहार हमें दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिये। देवल के अनुसार व्यवहार का यही रूप धर्म का 'सर्वस्व' है।[2] सिद्धान्त की दृष्टि से हम इसे समानता का भाव कह सकते हैं। आत्मदर्शन अथवा आत्मभाव इस समता का तात्विक आधार है। महाभारत में भी देवल के समान शब्दों में धर्म के इस सिद्धान्त का निर्वचन किया गया है। अपने साथ समानता के भाव को इस सामान्य धर्म का प्रमाण बताया गया।[3] भगवद्‌गीत में भी इस आत्मौपम्य का संकेत मिलता है।[4] यह आत्मौपम्य धर्म का मूल आधार है। इस रूप में धर्म एक ओर मनुष्य के आत्मिक कल्याण का साधन है तथा दूसरी ओर समाज में सामंजस्य का सूत्र बन जाता है।

महाभारत में सत्य, अहिंसा, दया आदि को विभिन्न स्थानों पर परम धर्म कहा गया है। अनुगीता में गीता के अनुरूप सत्य की महिमा वर्णित है। प्रकृति के गुणों में सत्य का परम धर्म कहा गया है।[5]

---

1. *राधाकृष्णन : हिन्दुओं का जीवन दर्शन, पृष्ठ 73।*
2. *श्रू यतांधर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवाघ्क्धार्यताम्।*
   आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।। देवल।।
3. *डॉ० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास : खण्ड 2, भाग 1, पृ० 7।*
4. *आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।*
   सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। भगवद्‌गीता : अध्याय 6, श्लोक 32।
5. *आश्वमेधिक पर्व : अध्याय 39, श्लोक 9।*

भारतीय संस्कृति में राज्य और वैभव का आधार भी धर्म तथा शील को माना गया है। भारतीय संस्कृति के इस दृष्टिकोण की तुलना उन संस्कृतियों से करने योग्य नहीं है जिनमें आक्रमण, अनीति, छल आदि का अवलम्ब लेकर राज्य विस्तार को गर्व के योग्य समझा जाता है। भारतीय संस्कृति की इसी परम्परा के अनुसार 'सत्यमेव जयते' स्वाधीन भारत का राजमंत्र बना है।

यद्यपि राजनीति के पंडितों ने राजनीतिक चिंतन, राजधर्म तथा वैचारिकता का मूलाधार अधिकांशतः स्वार्थ ही माना है। यह स्वार्थ कभी सामुदायिक, कभी धर्मगत, कभी राष्ट्रीय तथा कभी व्यक्तिगत प्रभाव के रूप में प्रस्फुटित होकर राजनीतिक विचारों का आधार बना रहा। मैक्यावली, विस्मार्क, रिचलू तथा कौटिल्य सदृश विद्वानों ने अपने राजनीतिक विचारों को इसी नींव पर आधारित किया।[1] इन सभी राजनीतिक विचारधारा में "स्वदेश के सिद्धान्त" की प्रधानता रही। विश्व के विभिन्न राजनीतिक विचारों के सर्वथा विपरीत कृष्ण के राजनीतिक विचार थे, जिनमें स्वार्थपरता का लोप और लोक कल्याण की भावना निहित थी। उनके मतानुसार मनुष्यत्व के सेवा में राष्ट्रीय स्वार्थों का भी त्याग किया जा सकता है। उनके राजनीतिक विचारों का आधार मानवधर्म और आत्मत्याग है।[2] वे कहते थे "कुल की रक्षा के लिये एक व्यक्ति, गांव की रक्षा के लिये कुल, जनपद की रक्षा के लिये सारे गांव को तथा आत्म के लिये सारी पृथ्वी को त्याग देना चाहिये।[3]" लोक कल्याण के इस मूल राजनीतिक विचार को संपुष्ट करने के लिये उन्होंने आत्म-त्याग के सिद्धान्त द्वारा राजनीति को विशुद्ध, द्वेषमुक्त तथा अभिभाज्य बनाया। कंस के संहार, जरासन्ध के वध तथा इसी प्रकार अन्यानेक राजाओं की पराजय एवं समाप्ति[4] के पश्चात कृष्ण ने आत्मत्याग व जनकल्याण की

---

1. *कल्याण (कृष्ण अंक) : 1953, पृष्ठ 255।*
2. *कल्याण (कृष्ण अंक) : 1953, पृष्ठ 255।*
3. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्घशीर्ष-'2012, दिसम्बर, 1955 : पृ0 344, 477।*
4. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्घशीर्ष-'2012, दिसम्बर, 1955 : पृ0 708, 710, 712।*

भावना को ही सर्वोपरि रखकर राजनीति को विषैला बनने से न केवल रोका बल्कि पराजित क्षेत्रों की जनता के नेताओं के साथ सहिष्णु व्यवहार के माध्यम से माधुर्यपूर्ण राजनीति का प्रादुर्भाव करके शत्रुता को मैत्री में परिणित[1] करने का असाधारण मार्ग सुझाया। लगाव में अलगाव की यह नीति कृष्ण की विशेष बुद्धि एवं सूझबूझ का अनूठा उदाहरण है।[2]

कृष्ण एकतन्त्र राज्य की निरंकुशता के घोर विरोधी थे। युद्ध में उनके राजनैतिक विचार सुनीति पर आधारित थे। उनके अनुसार....'शत्रुओं की संख्या अधिक होने पर उन्हें कूट युद्ध में मारना राजनीति का नियम था। उनके अनुसार पूर्व समय में असुरों को मारने के लिये देवताओं ने मार्ग को ग्रहण किया था। विद्वान जिस राह पर चले उन सभी को चलना चाहिये। उनके राजनैतिक विचारों का आधार यह विचारधारा थी।[3]

कृष्ण के राजनीतिक विचार, त्याग, सत्य, दया, न्याय और मानवोचित सभी उच्च गुणों पर आधारित थे। उसमें न तो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिये स्थान है और न देश तथा जातिगत स्वार्थों का ही ध्यान दें, उनमें न मद का दाभ है और न मूर्खतापूर्ण अधकचरा व्यवहार है उनके समस्त राजनैतिक विचार केवल एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये थे जो अभ्युदय और कल्याण था। उनका महत्वपूर्ण विचार था कि दुःखी लोगों के आर्तनाद में एक प्रकार की ईश्वरीय शक्ति होती है। ऐसे आर्तनादों से बड़े-बड़े साम्राज्य धूल-धूसरित हो जाते हैं। जो साम्राज्य दंभी होकर अपने बाहुबल पर विश्वास कर बैठता है, वह खण्ड-खण्ड हो जाता है।[4] उनकी राजनीति इस प्रकार दुःखी तथा अत्याचार से पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करने में निहित थी। वे अपहरण की राजनीति में विश्वास नहीं करते थे।[5]

---

1. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्घशीर्ष-'2012, दिसम्बर, 1955 : पृ0 732, 740।*
   महाभारत : संख्या 11, वर्ष 3, भाद्रपद-'2015, सितम्बर, 1958 : पृ0 143।
2. *डॉ0 चतुर्वेदी सहाय : दि पॉलीटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑफ लार्ड कृष्णा।*
3. *रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : पृष्ठ 303।*
4. *श्रीकृष्ण : नानाभाई भट्ट : पृष्ठ 17-18।*
   महाभारत : संख्या 5, वर्ष 4, वैशाख-2016, मई-1956 : पृ0 657, 656।
5. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्गशीष-2012, दिसम्बर-1955 : पृ0 729।*

जिन-जिन स्थानों पर शासकों पर उन्होंने विजय प्राप्त की उसे उन्होंने वहीं के लोगों को सौंप दिया। सन्धि के लिये अपने विचार प्रकट करते हुये उन्होंने दुर्योधन से भी इसी आशय से कहा....''कि दूसरों के उचित अधिकार छीनकर कोई समृद्ध नहीं हुआ और न हो सकता है।[1] गण के व्यक्ति होने के कारण राजा होना उन्हें न पसन्द था। परन्तु वे शासन प्रणाली से गण तथा एकतन्त्र की बीच का लचीला विधान खोजना चाहते थे।[2]

लोककल्याण उनके राजनीतिक विचारों का मूल उद्देश्य था।[3] अन्य सभी राजनीतिक विचार तो उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन मात्र थे। उनकी साम, दाम, दण्ड, भेद की विचार नीति की व्यापक भावना कल्याण की सिद्धि में ही सदैव प्रयोग हुई। उन्होंने इस नीति का प्रयोग कभी भी राजनीति को कलुषित अथवा वैमनस्यपूर्ण बनाने के लिये नहीं किया। महाभारत के युद्ध से पूर्व तथा युद्ध के अन्तर्गत तथा अन्य अनेक अवसरों पर इस विचार नीति का प्रयोग उन्होंने लोककल्याण की सिद्धि के लिये किया।[4] वे स्वजनप्रिय अवश्य थे परन्तु लोकहित के लिये स्वजनों का विनाश करने में किंचित भी नहीं हिचकिचाते थे। कंस उनका मामा था। जैसे पाण्डव उनके भाई थे वैसे ही शिशुपाल भी था। दोनों ही उनकी बुआ के बेटे थे। उन्होंने मामा और भाईयों के सम्बन्धों का विचार न करके दोनों को ही दण्ड दिया। यादव लोग सुरापायी होकर उदण्ड हो गये थे, उन्हें भी उन्होनें अछूता नहीं छोड़ा।[5] इस प्रकार लोकहित के लिये दण्ड की राजनीति में वे विश्वास करते थे फिर चाहे दण्ड का भागी उनका कितना भी प्रिय व्यक्ति क्यों न हो।[6] उनका विचार था कि नराधम तथा नृशंस व्यक्ति दण्ड का पात्र है चाहे वह अपना भाई ही क्यों न हो। उनके लिये यही सच्ची

---

1. *श्रीकृष्ण : नानाभाई भट्ट : पृष्ठ 38।*
2. *रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : पृष्ठ 266।*
3. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्घशीर्ष-2012, दिसम्बर, 1955 : पृ0 714, 738।*
   डॉ0 चतुर्वेदी सहाय : दि पॉलीटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑफ लार्ड कृष्णा।
4. *आचार्य श्री अक्षय कुमार बन्धोपाध्याय : महाभारत के नायक : महाभारत : वर्ष 3, संख्या 10, आषाढ़-2015, अगस्त, 1958 : पृ0 56।*
   डॉ0 चतुर्वेदी सहाय : दि पॉलीटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑफ लार्ड कृष्णा।
5. *कल्याण (कृष्ण अंक) : 1953, पृष्ठ 132-133।*
6. *डॉ0 चतुर्वेदी सहाय : दि पॉलीटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑफ लार्ड कृष्णा : पृष्ठ 31।*

राजनीति और यही सनातन धर्म था। जो पुरुष प्रकृति के मार्ग में रोड़ा अटकाता हो और जो व्यक्ति मानव समाज के कल्याण के लिये घातक हो उसको दूर रखना सर्वथा उचित है।[1]

कृष्ण के राजनीतिक विचारों की नींव उनके लोकोपकारी स्वरूप में निहित था। बड़े-बड़े सम्राटों के अधिपति होने पर भी वे साधारण जन की भांति थे। बाल्यावस्था में ग्वाले, प्रौढ़ होने पर सारथी और राजसूय यज्ञ जैसे राजनैतिक उत्सवों में जूठीं पत्तलें उठाने का कार्य चुनने वाला राजनीतिक विचारों का महान प्रणेता था। उनके विचारों ने राजाओं के नम्र और जनता को उन्नत बनाया परन्तु स्वयं कभी जनता के अधिपति बनने का प्रयास नहीं किया।[2] लोकहित की मर्यादा के लिये उन्होंने 'जैसे को तैसा' की नीति का अवलम्बन किया।[3] जहाँ इस नीति का पालन करने के कुछ आलोचक यह मन्तव्य व्यक्त करते हैं कि उन्होंने खुले रूप से धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन किया, वे भ्रमित हैं क्योंकि कृष्ण का यह विचार था कि लोककल्याण के प्रश्न पर जैसे को तैसा की नीति द्वारा कहीं धर्म की मर्यादा का उल्लंघन होता भी है तो अधर्म नहीं है। कर्ण और दुर्योधन के वध इसी दृष्टिकोण से देखे जाने चाहिये।[4] कृष्ण का राजधर्म न्याय और सत्य का पोषक था। उनके अनुसार राजनीति का प्रयोग राजधर्म के निर्वहन हेतु होना चाहिये। अतः जब राजनीति का नियंत्रण राजधर्म न करे उस समय राजनीति कुटिल नीति बन जाती है। उन्होंने राजनीतिक यथार्थ स्वरूप तथा उनके अन्तःकरण को समझ लिया था। उनसे पूर्व पशुबल पर राजनीति आधारित थी। उन्होंने इसे परिवर्तित करके मनुष्य की दैवीय भावना को अधिक निकट स्थापित कराया। उनके राजनीतिक विचारों में धर्म बल द्वारा पशु बल का नियंत्रण होना मुख्य तत्व था। उन्होंने शासकों की सुशोभित राजधानियों, पृथ्वी को कंपाने वाली सेनायें, बड़े-बड़े लोगों को चकित कर देने वाला वैभव, हृदय में घुस

---

1. *कल्याण (कृष्ण अंक) : 1953, पृष्ठ 255।*
2. *श्रीयुत् दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर अनु० काशीनाथ नारायण त्रिवेदी : लोकनायक श्रीकृष्ण : पृ० 250।*
3. *महाभारत : संख्या 21, वर्ष 2, अषाढ़-2014, जुलाई, 1957 : पृ० 4212।*
4. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्घशीर्ष-2012, दिसम्बर, 1955 : पृ० 714, 715।*
   डॉ० चतुर्वेदी सहाय : दि पॉलीटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑफ लार्ड कृष्णा।

कर पता लगाने वाले गुप्तचर पशु बल के स्थल बताये।[1] कृष्ण के अनुसार जिस राज्य में पशु बल के ऊपर धर्म बल का शासन होता है, जहां देश की शान्ति संस्थापिक शक्तियों के आधीन सैनिक शक्तियां हों, और जहां शासन का लक्ष्य एक लोककल्याणकारी आदर्श की प्राप्ति हो, ऐसा होने से मानवमात्र को अपने व्यक्तिगत सर्वांगीण विकास का अवसर मिलता है। वे धर्म द्वारा पशु बल को नियन्त्रित करने की राजनीति में विश्वास करते थे। कृष्ण के राजनीतिक विचारों का स्रोत मनुष्यत्व का कल्याण था। वे विश्वास करते थे कि शासन एकतंत्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाये जब तक उसका प्राण मनुष्यत्व का कल्याण चाहने वाला नहीं होगा वहां श्रेष्ठ राजनीति नहीं होगी और न ही तब तक वहां पूर्ण सुख और शान्ति की स्थापना संभव हो सकेगी।[2]

कृष्ण का विचार था कि वह राजनीति कटु नहीं है जो आध्यात्मिक साधनों पर आधारित हो। महाभारत युद्ध में उन्होंने सत्य, दया और सभ्यता की रक्षा की तथा अपने राजनीतिक विचारों से युद्ध की विभीषिका को कम किया। जो युद्ध हुआ वह पशु और राक्षसों की भांति अन्धाधुन्ध न होकर धर्मयुक्त पद्धति के अनुरूप ही हुआ जिसमें एक दूसरे की शक्ति की परीक्षा सम्भव हुयी तथा अनावश्यक रक्त न बहा। इसे भविष्य में धर्म युद्ध जाना गया।

कृष्ण युद्ध की अनिवार्यता को सबके समक्ष वैद्य सिद्ध करने के राजनैतिक विचार पर बल देते थे।[3] शान्तिदूत के रूप में कौरवों के पास जाते समय उन्होंने स्पष्ट कहा था "यदि मेरा यह प्रयास असफल रहा और युद्ध अनिवार्य हो गया तो हम सारे संसार के सामने यह सिद्ध कर देंगे कि किस प्रकार हम न्याय के पक्ष पर और वे अन्याय के। संसार हम दोनों के बारे में किसी गलत निष्कर्ष पर न पहुंचे........सारी दुनिया के सामने तुम्हारी निर्दोषता और उनके अपराध की घोषणा करूंगा। मैं सारी दुनिया को यह बात जता दूंगा कि तुम केवल अपने

---

1. *नानाभाई भट्ट : श्रीकृष्ण, पृष्ठ 12।*
2. *लोटू सिंह गौतम कल्याण : (कृष्ण अंक) : राजनीतिक भगवान कृष्ण : पृष्ठ 256।*
3. *महाभारत : संख्या 11, वर्ष 3, अषाढ़-2015, अगस्त, 1958 : पृ0 57।*

अधिकारों के लिये लड़ रहे हो।"[1] यह राजनीतिक विचार प्रश्न पर आधारित था जिसमें युद्ध का दोष दूसरे पक्ष के सिर रहे। यह इस सीमा तक सफल रहा कि कौरवों के सेना नायकों तक में फूट पड़ गयी। वे युद्ध की अनिवार्यता का दोष दूसरे पक्ष पर डालने की राजनीति के जन्मदाता थे ताकि मनोवैज्ञानिक प्रभावानुसार व्यापक जन-मानस आक्रान्त के प्रति सहानुभूतिपूर्ण न बना रहे।

'महाभारत' के युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, दुर्योधन आदि कौरव पक्ष के सभी महारथ वीरों का एक-एक कर अन्त हुआ और इस प्रकार युधिष्ठिर के धर्मराज्य संस्थापन-रूपी महायज्ञ की पूर्णाहुति हुयी। इस महान कार्य की सिद्धि में कृष्ण का योगदान सर्वोपरि था। कृष्ण की इस अपूर्व नीतिज्ञता, रण चातुरी तथा व्यवहार कुशलता को ठीक-ठीक न समझकर उन पर युद्धलिप्सु होने का आरोप लगाना अथवा समस्त देश को युद्ध की भयंकर एवं विनाशकारी ज्वालाओं में झोककर स्वयं तमाशा देखने वाला बताना, सर्वथा अनुचित है। कृष्ण ने यथाशक्य युद्ध का विरोध किया, उन्होंने न तो युद्ध को राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का एक मात्र अनिवार्य उपाय माना और न उसमें कूद पड़ने के लिये किसी को उत्साहित किया। यहां तक कि वैयक्तिक मान-अपमान की परवाह किये बिना वे स्वयं पाण्डवों की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये। यह सत्य है कि इस लक्ष्य को वे पूरा करने में असफल रहे, परन्तु इससे संसार को यह तो ज्ञात हो ही गया कि कृष्ण शान्ति-स्थापना के लिये कितने उत्सुक थे तथा युद्ध के कितने विरोधी थे। उन्होंने स्वयं कहा था कि वे पृथ्वी को युद्ध की महाविभीषिका से बचा देखना चाहते हैं।

यह ठीक है कि दुर्योधन ने अपने दुष्ट स्वभाव तथा कुटिल प्रकृति के कारण उनकी बात नहीं मानी, फलतः युद्ध भी अपरिहार्य हो गया, परन्तु लोगों पर यह भी अप्रकट नहीं रहा कि पाण्डवों का पक्ष सत्य, न्याय और धर्म का पक्ष था तथा कौरव असत्य, अन्याय और अधर्म का आचरण कर रहे थे। संसार के लोगों को सत्य और न्याय का वास्तविक ज्ञान

---

1. *महाभारत : संख्या 11, वर्ष 3, अषाढ़-2015, अगस्त, 1958 : पृ० 57।*
महाभारत : संख्या 11, वर्ष 3, भाद्रपद-2015, सितम्बर, 1958 : पृ० 169-178।

कराने में ही कृष्ण की अपूर्व दूरदर्शिता तथा मेधा का परिचय मिलता है।

शिक्षा और अध्ययन :

उनका विद्याध्ययन तथा राजनीतिक विचारों का प्रशिक्षण तत्कालीन आचार्यों सांदीपनि एवं गार्गीचार्य द्वारा हुआ। अपने कुल पुरोहित गार्गीचार्य को वसुदेव ने नन्द के पास अपने पुत्रों के नामकरण संस्कार हेतु भेजा। नन्द ने भी उनके आगमन पर उन दोनों बच्चों के नामकरण संस्कार करने की प्रार्थना की परन्तु गार्गीचार्य ने ऐसा करने में असहमति व्यक्त कर दी, क्योंकि वे केवल यदुवंशियों के पुरोहित थे। इसके अतिरिक्त कंस को पूरा सन्देह था कि वसुदेव का आठवां पुत्र नन्द के ही पास होगा क्योंकि दोनों की मैत्री प्रगाढ़ थी और यदि नामकरण संस्कार भी गार्गीचार्य करते तो कंस का यह सन्देह पुष्ट हो जाता। उन बालकों के संहार का प्रपंच रचा जाने लागा इस पर नन्द ने उनसे कहा ''कि एकान्त में छिपकर वह बच्चों का नामकरण कर दें। गार्गीचार्य तो इसके लिये तैयार ही थे क्योंकि वे वास्तव में द्विजातीय संस्कार के लिये ही आये थे।[1] नामकरण संस्कार के अवसर पर उन्होंने ये रहस्य भी उन्हें बता दिया कि कृष्ण वासुदेव के पुत्र हैं, उनके नहीं। गार्गीचार्य ने उन्हें बड़ी सावधानी और तत्परता से उसकी रक्षा करने की बात कही। इस प्रकार नामकरण संस्कार करके नन्द को भली-भांति समझा कर गर्गीचार्य अपने आश्रम वापस लौट गये।[2]

युद्ध की शिक्षा आपने सांदीपन से अखाड़े में प्राप्त की परन्तु हजारों हाथियों का बल रखने वाले कंस और चाणूर का चारण बनाने की विद्या तथा कुबलयापीढ़ का पुलाव पकाने की विधि उन्होंने किससे सीखा इसके कोई प्रमाण नहीं हैं। निश्चय ही ये शिक्षा उन्होंने मथुरा आने से पूर्व प्राप्त की थी। गोपों से दांव-पेच नहीं सीख सकते थे। निःसन्देह वे अपने प्रशिक्षक स्वयं ही थे और उनमें जन्मजात प्रतिभा और कौशल के संस्कार थे।[3]

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, अध्याय 8 : पृष्ठ 57 ।*
2. *सुरजमल मोहता : भागवत कथा : पृष्ठ 256।*
3. *कल्याण (कृष्ण अंक) : 1953, पृष्ठ 51।*

गर्गीचार्य के अतिरिक्त और किसी प्रकार की उन्हें नन्द के घर शिक्षा उन्हें मिली अथवा नहीं इसका कोई प्रमाण नहीं है।[1] कंस वध के पश्चात् ही कृष्ण की विधिवत शिक्षा प्रारम्भ हुई। मथुरा की व्यवस्था हो जाने के पश्चात कृष्ण का उपनयन संस्कार किया गया। उन्हें सांदीपानि के पास उज्जैन भेजा गया, वहां उन्होंने 64 दिनों में शस्त्र विद्या सीख ली। उन्होंने अपनी गुरुभक्ति से ऋषि को बहुत ही प्रसन्न किया। यद्यपि वह उस समय तक पूर्ण वैभवशाली बन चुके थे फिर भी जंगल से ईंधन, समिधा, दर्म इत्यादि लाने, गायें दोहने और ढ़ोर आदि चराने सब प्रकार की सेवा वे श्रृद्धापूर्वक करते थे। अब उनकी मल्ल के अतिरिक्त धुनर्धर की ख्याति और स्थापित हो गयी।[2] कृष्ण ने सांदीपनि के यहां 64 दिन में चारों वेद और छहों अंग, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द एवं आलेख्य, गणित, दानविद्या और वैद्यक सीख लिया।[3] दिन में हांथी, घोड़े आदि की शिक्षा प्राप्त की और 50 दिन में 10 अंगों सहित धनुर्वेद की शिक्षा समाप्त कर दी।[4] गुरु सांदीपनि ने धर्मशास्त्र, मीमांसा, न्यायमार्ग, सांख्ययोग, तदपि शास्त्र एवं 6 प्रकार की राजनीति भी पढ़ा दें। इस प्रकार 64 अहोरात्रि में 64 कलायें सीख लीं।[5] ये शिक्षायें विस्तार में निम्नलिखित है।

(1) गीत (2) वाद्य (3) नृत्य (4) नाट्य (5) आलेख्य (6) विशेषकच्छेद नाना प्रकार तिलक रचना (7) ताण्डुल-कुसुमावलि विकार चावल आदि पूजोपहारों की विविध प्रकार रचना (8) पुस्पास्तरुण-पुष्पादि द्वारा शैया रचना (9) दसनवसनांग राग (दांतों, वस्त्र एवं अंगों का रंगना) (10) मणि भूमिका कर्म (भूमि को भसिबध करना) (11) शयन रचना (पयांकादि रचना) (12) जल तरंग बजाना (13) जल रोकने की विद्या (14) चित्र योग नाना अद्भुत प्रदर्शन उपाय करना, नाना मूर्ति ग्रहण करना (15) नाना विधि माला रचना (16) नाना विधि वेशभूषा रचना (17) केशों में पुष्प ग्रन्थ करना (18) कर्ण पत्र मंग कानों में तिलक

---

1. *जगन्नाथ प्रसाद : कृष्ण चरित्र (भाग 3) : पृष्ठ 203।*
2. *कि० घ० मशरूवाला : राम और कृष्ण : पृष्ठ 89।*
3. *कल्याण (कृष्ण अंक) : 1953, पृष्ठ 50।*
4. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, अध्याय 45 : पृष्ठ 134 ।*

रचना व कढ़ीभूषण रचना (19) चोआ, चन्दन, कस्तूरी आदि रचित सुगन्धित द्रव्य प्रस्तुत करना (20) भूषण अलंकार बनाना सजाना (21) जादूगरी (22) बहुरूपधारण विद्या को सुरूप कर देना (23) हांथों के संचालन द्वारा वस्तुओं का परिवर्तन कर देना जिसे दूसरे न जान सकें (24) नाना विधि शाक, पकवान, खाद्य व्यंजन-रचना सूपकर्म (25) पेय पदार्थों या रसों का नानाविधि रंगना व उनमें मधुराग योजना करना (29) सिलाई व कढ़ाई (27) वीणा, डमरू, मृदंगादि बजाना (28) गुप्त वाक्यों का अर्थ जान लेना (29) सब वस्तुओं की प्रतिभा बना लेना (30) जो बोलने या करने में पुस्साध्य हो उसे बोलना व करना (31) ग्रन्थ पाठ करना (32) नाटकादि शास्त्रों का परिज्ञान एवं उनका निर्माण (33) काव्य समस्यापूर्ण करके गुप्त भाव कहे हुये पद तथा समस्या के अंशों की पूर्ति करना (34) पट्सन्, बैंत, औरद्रि वाणादि के द्वारा पदार्थों के निर्माण जैसे खाट, कुर्सी, मेज आदि बुनना (35) सूत काटना, तखली या चरखी चलाना (36) जुलाहे का काम (37) किसी स्थान पर कैसे घर बनाया जाये उसका ज्ञान होना, मकान का नक्शा स्थिर करना (38) सोना चांदी का परीक्षा ज्ञान (39) स्वर्ण बनाने की नियमावलि (40) मणि हीरों का रंगना (41) पत्थर, कोयला, सोना, मणि आदि धातुओं की खानों का ज्ञान (42) वृक्षादि से चिकित्सा का ज्ञान (43) भेष कुवकुट, शासक युद्ध विधि मेष, मुर्गी, बटेर आदि को लड़ाने की प्रणाली का ज्ञान (44) तोता मैना को पढ़ाना या बोली सिखाना (45) मालिश उपटन करना (46) बाल काटना, वेणी गूंथना (47) अस्पष्ट अक्षर का स्वरूप एवं ज्ञान (48) मलेच्छतक विकल्प (49) देश भाषा ज्ञान विविध देशों की भाषाओं का ज्ञान (50) पुष्ट शक्ति का निमित्त ज्ञान (आकाशवाणी निमित्त ज्ञान अर्थात् वायु, मेघ, वर्षा आदि होने का भविष्य ज्ञान (51) यन्त्रमात्का पूजा निमित्त यन्त्र निर्माण करना एवं धारण मातृका (यन्त्रों को धारण करने का ज्ञान) (52) मानसी काव्य-क्रिया (दूसरे के मन की बात जानकर उसको कविता में प्रकट करना) (45) क्रिया विकल्प (एक काम विविध उपायों से सम्पादन करने की कुशलता का ज्ञान) (55) छलितक योग (छलने की क्रिया) (56) अभिज्ञान कोष (शब्दकोष का ज्ञान) (57) छन्दोज्ञान (विविध छन्दों का ज्ञान) (58) वस्त्र गोपनानि (सूती

विवाह किया।[4] उसने (कंस) उग्रसेन और बन्धु-बान्धवों सहित वसुदेव को कैद कर लिया और

(60) आकर्ष क्रीड़ा (आकर्षण विद्या के बल से पदार्थों को आकर्षित करना) (61) बाल क्रीड़नक (खिलौने तैयार करना) (62) वैनायकी शास्त्रज्ञान (63) वज्यिकी (विजय प्राप्त करने की विद्या ज्ञान एवं शास्त्र विद्या) (64) वेतालिकी (भूत-प्रेत सिद्ध करने की विद्या)[1] इसके पश्चात गुरु द्वारा दक्षिणा मांगने पर उन्होंने समुद्र में डूबे हुये उनके पुत्र को पुनः समर्पित करके दक्षिणा पूर्ण की, और मथुरा वापस लौट आये। अति अल्प में वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता हो गये और इतना ही नहीं उन्होंने अपने ज्ञान और शिक्षा से नये शास्त्रों व विद्याओं का विकास भी किया। ताण्डव और लक्ष्य ये दो प्रकार के प्राचीन नृत्य प्रचलित थे। कृष्ण ने एक तीसरी कला की सृष्टि की जो शिव नृत्य (ताण्डव) और लास्य से विलक्षण तथा चमत्कारी थी। कृष्ण मत संगीत आज के प्रसिद्ध मतों में से एक है जो नारदमत संगीत, हनुमत तथा श्रीकृष्ण मत संगीत के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

तत्कालीन शासन की कुनीतियों का प्रतिफल :

गुरु से प्राप्त शिक्षा के अतिरिक्त यदि किसी अन्य तत्व ने उनके राजनीतिक विचारों को नियोजित एवं निर्मित करने में अत्याधिक भूमिका निभाई तो वह मथुरा की क्लेशपूर्ण एवं दमनकारी राजनीतिक परिस्थितियां थीं। कृष्ण के राजनैतिक विचारों को मथुरा के कुशासन ने बहुत प्रभावित किया। उनका प्रारम्भिक राजनीतिक संगठन मथुरा की राजनीति की ही प्रतिक्रिया मात्र था। उग्रसेन के दुर्बुद्धि पुत्र कंस ने अपने पिता को कैद करके समस्त यादवों को रौंदकर मथुरा का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। कुटिल बुद्धि वाला वह कुलांगार अपने ससुर जरासंध का आश्रय ले भोज, वृष्णि और अन्धक वंश के सब लोगों का अपमान करता था।[3] कंस ने समस्त यादवों को कुचल कर जरासन्ध की दो पुत्रियों के साथ

---

1. *श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्री श्याम दास : पृष्ठ 144, 160।*
2. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : स्कन्द 10, अध्याय 45 : श्लोक 36।*
   कल्याण (कृष्ण अंक) : 1953, पृष्ठ 51।
3. *महाभारत : वर्ष 4, बैशाख-2016, मई 1959 : पृष्ठ 618*
4. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्गशीर्ष 2012 दिसम्बर, 1955, पृष्ठ 708।*

विवाह किया। उसने (कंस) उग्रसेन तथा बन्धु बन्धवों सहित वासुदेव को कैद कर लिया और चोर की भाँति उन्हें सुदृढ़ बंधक में डाल दिया। उसके अत्याचारों से पीड़ित बहुत से यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दशार्ह, कुकुर आदि जाति भाई विभिन्न दिशाओं को भाग गये थे। अन्य स्थानों में बसने के कारण उन्हें अपार कष्ट उठाने पड़े।[2] ग्रामों के सारे आर्थिक श्रोतों को नगर में केन्द्रित करने को मजबूर किया जाता था उदाहरणार्थ दूध, मख्खन घी आदि। परिणामस्वरूप राजा के सताये हुये गोप गण में तथा कामना से झुण्ड-के-झुण्ड एकत्रित हो श्रीकृष्ण को घेर कर संगठित होने लगे।[3] कृष्ण सदा आततायियों के विरुद्ध रहते तथा जन-कल्याण को अनिवार्य मानकर उनका दमन व संहार अपना मुख्य उद्देश्य मानते थे। सार्वजनिक न्याय एवं सत्य के कारण ही उन्हें कंस वध के लिये उद्यत होना पड़ा। कंस द्वारा प्रेषित गुप्तचरों का संहार करके दमनकारी प्रवृत्तियों से दुर्बल व असहाय व्यक्तियों की रक्षा करने के राजनैतिक न्याय की विचारधारा को कृष्ण ने ही जन्म दिया। समस्त सेनाओं के साथ आये हुये सुदामा को जो इन्हें कैद करने के लिये उपस्थित हुआ था, मेड़ियों द्वारा मार भगाया। वन में विचरते हुये कृष्ण ने महावली दैत्य का बध करके कंस की भयभीत कर दिया। विजय में, युद्ध में अथवा नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में ब्रज के दूसरे ग्वाले नन्द-गोप के इन दोनों पुत्रों की ओर आंख उठाकर देख भी नहीं सकते थे।[4] इस प्रकार बल का संहार करके महाबली बसुदेव नंदन कृष्ण ने उग्रसेन की सम्पत्ति के अनुसार समस्त भाईयों सहित भोजराज कंस को मारकर पुनः उग्रसेन को ही मथुरा के राज्य पर आरुढ़ कर दिया।[5] यह उनकी दूरदर्शिता ही थी कि उन्होंने कंस संहार के बाद उसके मित्रों के कोप भवन से मथुरा को सुरक्षित करने के लिये कंस के डर से भागे हुये प्रमुख गणों की सहानुभूति द्वारा तथा मथुरा के शासन में भागीदार बनाकर

---

1. *महाभारत : संख्या 5, वैशाख 2016, मई-1959 पृष्ठ 620।*
   श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, अध्याय 45 : पृष्ठ 133 ।
2. *श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्री श्याम दास : पृष्ठ 113।*
3. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्गशीर्ष-2012, दिसम्बर 1955, पृष्ठ 732।*
4. *महाभारत : संख्या 5, वर्ष 4, बैशाख 2, मई 1959, पृष्ठ 619-620।*
5. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्गशीर्ष-2012, दिसम्बर 1955, पृष्ठ 732।*

मथुरा राज्य की रक्षा मजबूत कर दिया। मथुरा की नवीन शासन व्यवस्था उनके प्रौढ़ राजनीतिज्ञ होने का प्रमाण है। स्वयं राजसिंहासन प्राप्त न करके शासक-निर्माता बनना व राज्य का संबल होना भी उनके नवीन राजनीतिक बुद्धि चातुर्य के प्रमाण हैं। कंस के वध के कंस के परिवार को जो स्थायी क्षति हुयी उसे स्थायी शत्रुता में परिणित न होने के लिये कंस परिवार को संतुष्ट करना राजनीतिक अनिवार्यता थी। इसलिये उन्होंने कंस के पिता उग्रसेन को ही बार-बार बल देकर शासन पद ग्रहण करने के लिये कहा ताकि उनके प्रति शत्रुता के स्थान पर सद्भावना तथा पारिवारिक एकता पुनः स्थापना संभव हो सके। युवावस्था में ही मथुरा की नवीन शासन व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान उनके राजनीतिक पाण्डित्य को परिलक्षित करता है। इस कार्य में उन्हें कई प्रयत्न करने पड़े, वहीं गोकुल और वृन्दावन में स्वतंत्रता सत्ता की स्थापना की चेतावनी देकर उग्रसेन को ही शासक पद स्वीकार कराने में उन्होंने राजनीतिक विचारों को नूतन दिशा देकर समृद्ध किया।[1]

षाड्गुण्य नीति का आश्रय :

कृष्ण के राजनीतिक विचारों की महत्वपूर्ण अवलम्बन षाड्गुण्य नीति थी। विद्रोह का राजनीतिक विचार भी कृष्ण के आदर्शों का सार था। वह विद्रोह के लिये विद्रोह की नीति को उचित नहीं मानते थे परन्तु आततायी को दण्डित करने, कुशासन को समाप्त करने तथा दुर्बल की रक्षा करने में विद्रोह को राजनीतिक विचारों का मूल आधार मानते थे। कंस की अमानवीयता के विरुद्ध उन्होंने प्रारम्भ से ही विद्रोह की नीति का पालन किया। पूतना को कंस द्वारा गांव-गांव, घर-घर बालकों को मारने के लिये नियुक्त किया गया परन्तु कृष्ण से सामना होने पर उन्होंने उसकी समाप्ति में कोई भी हिचकिचाहट न दिखाई और न ही कंस के खुले विरोध से भयभीत ही हुये इसी प्रकार कंस के अन्य गुप्तचरों तृणावत्, अघ, प्रलम्ब, वत्स, केशी को समाप्त करके उनके षड़यंत्रों को भंग किया। यह क्रमिक प्रयत्न ही कंस के अत्याचारी शासन के विरुद्ध खुला विद्रोह थे। कृष्ण की सफलतायें उनकी रक्षात्मक व्यवस्था की दृढ़ता

---

1. *श्री गोपाल चम्पू (पूर्व चम्पू) : श्री श्याम दास : पृष्ठ 110-112।*

के प्रतीक हैं। नगर में मख्खन दूध व घी आदि ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाकर कृष्ण ने कंस को खुली चुनौती प्रस्तुत की। कृष्ण की निरन्तर विद्रोहात्मक गतिविधियों से कंस को रात-दिन चैन नहीं था। अतः उसने अपने विश्वसनीय एक यादव प्रमुख अक्रूर का किसी प्रकार दोनों नवयुवकों को मथुरा ले आने के लिये प्रेरित किया ताकि मथुरा में अपने शक्तिशाली मल्लों द्वारा उन्हें नष्ट कराने का अयोजन करा सके।[1] अक्रूर के ब्रज में पहुंचने पर कृष्ण ने उन्हें अत्यधिक प्रसन्न करके कंस की समस्त योजना का पता कर लिया।[2] सम्पूर्ण जानकारी के पश्चात् कृष्ण ने इसे कंस का खुला विरोध करने के लिये स्वर्णिम अवसर समझा। अतः वे अपने सब गोप-बन्धुओं के साथ कंस की कूटनीति का उत्तर देने के लिये मथुरा चल दिये। उनकी राजनीति इस अवसर पर कंस की भांति व्यवहार में निश्छता व वास्तविकता में प्रतिकार की भावना लिये हुये की। वे कंस को अनेकों विपत्तियों का कारण मानते थे। अपने माता-पिता की दुर्गति का उन्हें पूरा बदला लेना था। अतः वे अक्रूर के साथ ब्रजवासियों के मथुरा पहुंचने के बाद पहुंचे जो एक उद्यान में ठहर कर उनकी पहले से प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने अत्यधिक सर्तकता बरती। प्रथम वे ब्रजवासियों के पश्चात पहुंचे द्वितीय वे तत्क्षण नगर में प्रविष्ट न हुये।[3] कृष्ण ने रंगभूमि पहुंच कर निषिद्ध धनुष को उठाकर कंस की सत्ता का खुला विद्रोह किया। रक्षकों के विरोध करने पर उन्होंने उसी धनुष से उन्हें भूमिसात कर दिया। कंस द्वारा भेजी सेना को भी उन्होंने पराजित कर दिया। कुबलयापीड़ हाथी को समाप्त करके कृष्ण ने धुरन्धर समझे जाने वाले चाणूर, शाल और तोशल को समाप्त करके कंस का खुला विरोध किया। इतना ही नहीं वे गोपों के साथ नृत्य करके आनन्द मनाने लगे। यह कार्य कंस की सत्ता की उपेक्षा था। कृष्ण शत्रु के खेमें में फूट डलवाने के राजनीतिक विचार के भी प्रणेता थे। उन्होंने कंस के अन्तःपुर में कुब्जा नामक स्त्री के माध्यम से विद्रोह उत्पन्न करा

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा0 दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्द 10, अध्याय 36 : पृष्ठ 115 ।*
2. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा0 दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्द 10, अध्याय 38 : पृष्ठ 119, अध्याय 36, पृष्ठ 120।*
3. *पूर्णेन्दु नारायण सिन्हा : ए स्टडी ऑफ दि भागवत पुराण : पृष्ठ 433।*

दिया। यह उनकी इसी प्रकार की राजनीति का परिणाम था कि मल्लयुद्ध के अवसर पर संघ बनाकर एकत्रित होकर बैठी हुयी सभी स्त्रियां कृष्ण के प्रति अनुकम्पायुक्त थी। यह राजा को और यहां तक कि सभासदों को निन्दनीय सिद्ध कर रही थीं। शक्तिशाली मल्लों के विरुद्ध दो नवयुवकों के मुकाबले को वे महान अधर्म कह रही थी।[1] कृष्ण ने अपने विचारों को जो व्यवहारिक रूप दिया उसी के परिणाम रूप दिया उसी के परिणाम स्वरूप स्त्रियां भावनात्मक रूप में कृष्ण के पक्ष में हो गयी। कंस की क्रोधित उत्तेजना जैसे तीव्र हुयी वैसे ही कृष्ण के मंच पर चढ़कर कंस व उसके रक्षकों को समाप्त कर दिया।[2] कृष्ण का विद्रोह की राजनीति का आदर्श न्याय और सत्य के लिये था। जहां मानव कल्याण पर प्रहार दिखायी देता वहां कृष्ण विद्रोह के विस्तार के अनुप्रणेता होते, चाहे वह विद्रोह अपने बन्धु-बान्धवों के ही विरुद्ध क्यों न होता। यह उनके प्रौढ़ राजनीतिक विचारों का आधार बन गया। महाभारत युद्ध से पूर्व अर्जुन की निराशा भंग करने के पीछे कृष्ण का यही विद्रोही स्वरूप सफल हुआ।

आवश्यकतानुसार विद्रोह एवं परिस्थिति के अनुसार संधि उनके राजनैतिक विचारों के मूल स्तम्भ थे। यमुन पर भयंकर नागराज ने अपनी वीरता साहस व अधिनायकत्व से आसपास के क्षेत्रों में आतंक मचा रखा था। यह ऐतिहासिक नाग जाति का शासक था। यमुना नदी के प्रश्न पर गोवर्द्धन के गोपराज राजकुमार कृष्ण और नागराज कालिया का संघर्ष हुआ।[3] कुछ समय पूर्व ही वह रमणीक द्वीप छोड़कर कालिया स्थान पर आ बसा था। कृष्ण तथा उनके गोप साथियों ने अपनी गौओं बछियों तथा अन्य पशुओं को एक दिन इसी कलिया नाग के क्षेत्र में प्रवेश करा दिया। इससे कुन्द होकर नागराज अपने साथियों के साथ गोपों के नायक कृष्ण पर टूट पड़ा। इस यकायक आक्रमण से प्रारम्भ में श्री कृष्ण चारों ओर

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्द 10, अध्याय 44 : पृष्ठ 130 ।*
2. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्द 10, अध्याय 44 : पृष्ठ 131-132 ।*
3. *पूर्णेन्दु नारायण सिन्हा : ए स्टडी ऑफ दि भागवत पुराण : पृष्ठ 397।*

से घिर गये।[1] लेकिन फिर संभलकर नागराज के महत्वपूर्ण समझे जाने वाले सिर अथवा मुख्य सहयोगियों को पराजित करना प्रारम्भ कर दिया। स्वयं नागराज उनके भयंकर आघातों से घायल होकर मुख और नाक से रक्त प्रवाहित करने लगा। नाग परिवार पर दया करके उसका वध नहीं किया उसक क्षमा मांगने पर उससे मैत्री स्थापित कर ली।[2] यह सन्धि कृष्ण के प्रभुत्व एवं नाग पर उनकी श्रेष्ठता का प्रतीक थी। यह उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता की परिचायक थी। नागराज से सम्पूर्ण क्षेत्र खाली कराके अपनी जाति के प्रयोग के लिये प्राप्त की गयी उपलब्धि[3] निःसन्देह उनके व्यक्तिगत पराक्रम के प्रमाण के अतिरिक्त राजनीतिक उदारता के माध्यम से भविष्य के राजनीतिक प्रभुत्व को दृढ़ करने का प्रयोग भी थी। यहीं से उन्होंने अपने हर पराजित शत्रु के साथ मैत्री व सन्धि के राजनीतिक विचारों का परिपालन किया। कंस की समाप्ति पर उसके पिता से स्थायी मैत्री जरासन्ध की मृत्यु पर उसके पुत्र से स्थायी सन्धि भौमासुर की समाप्ति कर उसके पुत्र से मैत्री तथा दुर्योधन एवं उसके भाइयों की समाप्ति पर गन्धारी एवं धृतराष्ट्र के प्रति विनम्रतायें आदि सभी पराजित शत्रु से सन्धि व मैत्री के राजनीतिक विचारों के प्रमाण हैं।

गणराज्य तथा संघ राज्यों का आविर्भाव :

कृष्ण वृष्णि यादव वंशीय थे जब कि उग्रसेन अन्धक यादव वंशीय। कंस की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने मथुरा को अन्धक वंशीय उग्रसेन के हाथों ही सौंपे रखा लेकिन जरासन्ध के आक्रमणों के परिणाम स्वरूप जब उन्हें द्वारिका में पुर्नवासित होना पड़ा तक कृष्ण अन्धक वृष्णि दोनों ही वंशों के संघ

---

1. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्द 10, अध्याय 16 : पृष्ठ 19 ।*
2. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्द 10, अध्याय 16 : पृष्ठ 81 ।*
3. *श्रीमद्भागवत भाषा टीका : सम्पा० दौलतराम गौड़, टीकाकार पण्डित विद्याधर शास्त्री, स्कन्द 10, अध्याय 16 : पृष्ठ 81 ।*

मुख नियुक्त हुये।[1] इस प्रकार वृष्णियों का अन्धिकों पर प्रभुत्व हो गया परन्तु यह प्रभुत्व शक्ति और बल द्वारा न होकर कृष्ण की राजनैतिक प्रतिभा के कारण था। जो कटुता कंस वध के बाद अन्धक और वृष्णिओं में हुयी थी। वह उग्रसेन के पुर्नस्थापना से काफी कुछ दूर हो गयी थी। जो थोड़ी बहुत मतभेद की दरार शेष रह गयी थी वह अन्धकों का कृष्ण का साथ देने से यह पूर्णरूपेण स्थापित हो गया कि अन्धकों का कृष्ण के साथ द्वारिका पलायन करने की सहमति से समाप्त हो गयी। भोज कुकुर के मथुरा में रहने और अन्धकों का कृष्ण का साथ देने से यह पूर्णरूपेण स्थापित हो गया कि अन्धक, वृष्णि अब राजनीतिक क्षेत्र में पूर्ण सहयोग और मैत्री पर अवलम्बित हैं। दोनों में प्रगाढ़ राजनीतिक गठबन्धन स्थापित हो गया। उन्होंने संघ राज्य के रूप में राजनीतिक प्रशासन को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया। यह सब कृष्ण के राजनीतिक विचारों की अधारशिला के प्रेरक प्रसंग थे।

कंस बध के पश्चात् तथा सांदीपनि के पास विद्याध्ययन को जाने से पूर्व कृष्ण ने जो मथुरा के शासन की व्यवस्था थी वह संघीय प्रणाली पर आधारित थी। उन्होंने उग्रसेन को राजा बना कर यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दर्शाह, कुकुर आदि सभी जाति भाईयों को पुर्नसंगठन करके संघ राज्य की स्थापना कर दी परन्तु अभी इस संघ राज्य में वास्तविक दृढ़ता का अभाव था। तभी इन्हें द्विजातीय संस्कार के अनुरूप गुरु सांदीपनि के यहां रहकर ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करते हुये विद्या अध्ययन की समाप्ति के लिये प्रस्थान करना पड़ा। संभवतः जरासंध के भीषण आक्रमण एवं नवनिर्मित मथुरा के संघ राज्य के आन्तरिक असंगठन के कारण ही उन्हें 64 दिन उपरान्त ही मथुरा वापस लौटना पड़ा। जिस संघ राज्य की उन्होंने स्थापना की वह संघ राज्य जरासंध के आक्रमण के कारण विश्रृंखल होने लगा था। कुछ संघ इकाईयां मथुरा पर आयी विपत्ति का कारण कृष्ण को मानने लगे थे। इस सम्बन्ध में खुलकर संघ प्रमुखों में सभायें होने लगी थीं।[2] कृष्ण ने ऐसी विषय परिस्थिति का नीतिपूर्वक सामना किया जिससे उनके द्वारा स्थापित संघ राज्य का ढांचा भी न टूटे और उनकी समस्त प्रजा की जरासन्ध के आक्रमण से रक्षा भी हो सके। उन्होंने मथुरा त्याग कर अन्यत्र जाने का निर्णय

---

1. *सत्यकेतु विद्यालंकार : महाभारत के प्राचीन इतिहास : पृष्ठ 118।*
2. *वृन्दावनदास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य : पृष्ठ 145।*

सुना दिया। थोड़े से कुकुर महाभोजियों के अतिरिक्त समस्त अन्धक, वृष्णि, संघ के प्रमुख लोग कृष्ण के साथ मथुरा का परित्याग करने के लिये उद्यत हो गये।[1] मथुरा परित्याग पर द्वारिकापुरी में उन्होंने पुनर्वास किया। जरासन्ध ने आक्रमण कर के मथुरा पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया और वहां के कुकुर भोज वंशियों ने उससे सन्धि कर ली।[2] कृष्ण ने मथुरा के स्थान पर द्वारिका में संघ राज्य की कायम रखने मे पूणरूपेण सफलता प्राप्त की। जरासन्ध के सम्मुख उनका यह पलायन सामरिक दृष्टिकोण से ही था।[3] उन्होंने इसे न तो मथुरा का अन्तिम परित्याग माना और जरासन्ध से अपनी पराजय। जरासन्ध को बहुत शक्तिशाली जानकर उन्होंने मथुरा के समीप पाण्डव राजकुमारों से मैत्री स्थापित करके उनके ज्येष्ठतम् युधिष्ठिर को सम्राट बनाने को प्रोत्साहित[4] करके जरासन्ध के विरुद्ध शक्तिशाली संयुक्त मोर्चा स्थापित कर लिया। उन्होंने राजा को यह समझाया कि सम्राट की उपाधि धारण करने में जरासन्ध सबसे बड़ा विरोधी होगा। अतः पहले उसके संहार की योजना सफल बनाने पर बल दिया। वे जानते थे कि पाण्डव बन्धुओं की सहायता से वे खुले युद्ध में जरासन्ध को संभवतः पराजित नहीं कर पायेंगे। अतः उन्होंने नीति द्वारा उसके वध की युक्ति सोंची।[5] वे स्वयं इस योजना के कार्यान्वयन में सम्मिलित हुये और मथुरा पलायन का पूरा बदला भीम द्वारा उसे द्वन्द युद्ध समाप्त करके लिया। जरासन्ध की समाप्ति तथा उसके द्वारा कैद किये गये 86 शासकों की मुक्ति से जहां पाण्डव बन्धुओं का देश उत्तरी क्षेत्र में महत्व बढ़ा वहां कृष्ण का प्रभुत्व स्वतः ही सर्वोपरि हो गया।[6] उनके द्वारा स्थापित संघ राज्य जीवित रहा। जब भी संघ राज्य के अस्तित्व को किसी एक राष्ट्र की शक्ति का भय हुआ तो कृष्ण ने भी किसी एक राष्ट्र को ही उसके विरुद्ध करके संघ की सुरक्षा की।

---

1. *वृन्दावनदास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य : पृष्ठ 145।*
2. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्गशीर्ष 2012, दिसम्बर 1955, पृष्ठ 732।*
3. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्गशीर्ष 2012, दिसम्बर 1955, पृष्ठ 708-710।*
4. *महाभारत : संख्या 11, वर्ष 3, भाद्रपद 2015, सितम्बर 1958, पृष्ठ 143।*
5. *सत्यकेतु विद्यालंकार : महाभारत के प्राचीन इतिहास : पृष्ठ 118-119।*
   प्राणनाथ वानप्रस्थी : श्रीकृष्ण : पृष्ठ 32-33।
6. *महाभारत : संख्या 2, वर्ष 1, मार्गशीर्ष 2012, दिसम्बर 1955, पृष्ठ 738-739।*

अध्याय पंचम्

॥ कृष्ण द्वारा व्यक्त राजनीतिक विचार ॥

अध्याय पंचम्

।। कृष्ण द्वारा व्यक्त राजनीतिक विचार ।।

कृष्ण की सर्वोपरि विशेषता उनकी राजनीतिक विलक्षणता और नीतिज्ञता है। राजनीति के प्रति उनका अनुराग किसी स्वार्थ-भावना से प्रेरित नहीं था और न ही उनकी राजनीतिक विचारधारा किसी संकुचित राष्ट्रवाद के घेरे में आबद्ध थी। कृष्ण का राष्ट्रवाद तो लोक-कल्याण, जनहित तथा सब प्रकार की अराजकता, अन्याय तथा शोषण की प्रवृत्ति को समाप्त कर धर्म-राज्य की संस्थापना के लक्ष्य को लेकर ही चला था। सम्पूर्ण मानव-जाति ही नहीं, अपितु प्राणि-मात्र के कल्याण का भाव उनकी विचारधारा का केन्द्र था।

कृष्ण की नीति, न्याय और सत्य पर आधारित धर्मराज्य की स्थापना का राजनीतिक विचार संगठित एवं एकीकृत भारत के लिये था। छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त भारत को वास्तविक राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोने का विचार था।[1] जो न्याय और सत्य पर आधारित हो। इसलिये गोमन्त से लेकर आसाम तक सम्पूर्ण भारत को एक बार पदाक्रान्त करके कृष्ण ने युधिष्ठिर को भारत का सार्वभौम सम्राट निर्वाचित करने का उद्योग किया। छोटे-छोटे राज्यों को एक करके जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में विस्मार्क ने एक महान जर्मन साम्राज्य की स्थापना की। उसी प्रकार कृष्ण ने हजारों वर्ष पूर्व भारत में यह अद्‌भुत कार्य सम्पादित किया।[2] विस्मार्क से नितान्त भिन्न कृष्ण का संगठित भारत का आधार न्याय और सत्य के प्रशासन तन्त्र पर आधारित था जबकि जर्मन राज्य "लौह और शक्ति" के सिद्धान्त पर।

---

1. *श्रीकृष्ण सन्देश : सम्पा० श्री व्यथित हृदय : पृ० 58।*
2. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता : पृ० 14-15।*

महाभारत युद्ध के परिणामस्वरूप एकीकृत भारत की स्थापना कृष्ण के राजनीतिक चिन्तन की "महानतम ऐतिहासिक उपलब्धि थी।"[1]

कृष्ण के जीवन का लक्ष्य न्याय एवं सत्य की रक्षा तथा उनकी स्थापना रहा । अन्याय, अधर्म और अत्याचार का प्रतिरोध बाल्यावस्था से ही किया।[2] गोपों के मानवीय अधिकारों के लिये कालिय नाग से युद्ध किया। कंस को दण्ड दिया और दण्ड दिया उन सभी नरेशों को जो धर्म के मार्ग में कंटक थे।[3] उन्होंने कंस का वध कर मथुरा में नीति और न्याय का राज्य स्थापित किया, जरासंध का वध कराके राजाओं को बन्धन से छुड़ाया और नरकासुर का नाश करके सोलह हजार एक सौ कुमारियों को मुक्त किया।[4] भारत के उत्तर में हिमालय के पार्श्व में उसका शक्तिशाली राज्य था। वह एक ओर मानवों तथा दूसरी ओर देवताओं को कष्ट पहुंचाने लगा, उनकी धन-सम्पदा और सुन्दर स्त्रियाँ लूट-लूट कर वह अपने यहाँ जमा करने लगे। देवलोक समस्त अप्सराओं, गन्धर्वों की कन्याओं और मानवों की सुन्दर कन्याओं का हरण कर वह अपने प्राग्ज्योतिषगण पुर के प्रासाद में रखे हुये थे। पिछले इन्द्र की भांति आदिति के कुण्डल तक चुराने का दुस्साहस कर डाला। इन्द्र को उसके संहार के लिये कृष्ण की सहायता की प्रार्थना करनी पड़ी और न्याय के पक्षधर कृष्ण ने अनेकों कठिनाइयों के बावजूद उसका विरोध किया और सत्य और न्याय की रक्षा के लिये नष्ट करके ही छोड़ा।[5] उसके संहार से कृष्ण ने यह विचार प्रकट किया कि विश्व कंटक या अधम पुरुष वध योग्य है। कृष्ण अन्याय और अत्याचार के इतने बड़े विरोधी थे भारत के हर क्षेत्र में अत्याचारी व अन्यायी के लिये भयंकर चुनौती व शत्रु थे। उनके बालक स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासकों को नींद नहीं आती थी।[6] वास्तव में अनेकानेक युद्धों में अपनी योग्यता में अपनी प्रसिद्धि के कारण भारत के नरेशों में उनके प्रति आदर मिश्रित भय पनप रहा था।

---

1. *राधा कमल मुखर्जी : भारत की संस्कृति और कला : पृ0 60।*
2. [illegible] : श्री कृष्ण संदेश , पृ० ३७ ।
3. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता : पृ0 13।*
4. *गुरुदत्त : इतिहास में भारतीय परम्परायें : पृ0 196-197।*
5. *महाभारत : सम्पा0 हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 729।*
6. *महाभारत : पूर्ण संख्या 41, संख्या 5 वर्ष 4, वैशाख-2016 मं0 1959 : सम्पादक : हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 151।*

वह राजतंत्र विरोधी नहीं थी बल्कि अधर्म व अन्याय पर आधारित तंत्र के विरोधी। अतः कृष्ण का अन्यायी एवं अत्याचारी राजाओं से संघर्ष चलता रहा।[1]

उस समय भारतवर्ष के गंधार प्रदेश से लेकर प्राग्ज्योतिष (आसाम) तक और काशी से सहयाद्रि पर्वत परम्परा के और भी दक्षिण में बहुत दूर तक हिन्दू आर्य क्षत्रियों के अनेक बड़े-छोटे स्वतन्त्र राज्य थे और सभी राजा धन-धान्य समृद्ध तथा ऐहिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुंचे हुये थे। स्थान-स्थान में बड़े-बड़े नगर और व्यापार केन्द्र थे तथा बड़े-बड़े राजप्रासादों, उद्यानों और क्रीड़ा स्थलों से देश परिपूर्ण था। सभी राजा प्रतापी और वीर थे।

उस समय चेदि देश के राजा शिशुपाल आदि अनेक दम्भी राजा थे। प्राग्ज्योतिष का राजा जैसा बलवान था वैसा ही विलासी और दुराचारी भी था। कंस के दरबार में यह अत्याचार दिखाई देता है कि उसने अपने पिता महाराज उग्रसेन को कैद कर राजगद्दी पाई थी और प्रजा पर वह असह्य अत्याचार कर रहा था। पांचाल देश में कौरवों पाण्डवों का भयंकर अन्तःकलह था जहां इस अन्तः कलह के साथ-साथ विलासिता, दुराचार, अमानुषी अत्याचार तथा अहंकार की मूर्तियाँ भी मौजूद थी। अतः स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों को ऐहिक उन्नति तो पराकाष्ठा को पहुंची हुयी थी। पर उन राजपुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो चुका था।[2] राजमद कृष्ण के समय के दात्रियों का प्रधान कष्ट था। इस मद का मर्दन कृष्ण ने अपने जीवन का अन्तिम ध्येय रखा।[3] ऐसी परिस्थिति में कृष्ण को एकमात्र महत्वपूर्ण विचार था कि ऐसे सभी राजपुत्रों का ससैन्य संहार करके धर्मराज्य की स्थापना हो।[4] इसी विचार की सिद्धि के लिये कंस का वध हुआ और जिस दिन से उन्होंने कंस को मारा उस दिन से उन्हें एक क्षण भी विश्राम करने को नहीं मिला। उनको नित्य नये शत्रुओं से सामना करना पड़ा।[5] धर्मरक्षणार्थ युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ द्वारा स्थापित कराने से तो लगभग सभी अधर्मी राजाओं को अपने सिंहासन हिलते दिखायी दिये। इसीलिये अन्दर ही अन्दर राजाओं

1. *महाभारत : सम्पादक-हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ0 3130।*
2. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता : पृ0 6-7।*
   श्रीकृष्ण सन्देश : सम्पा0 व्यथित हृदय : पृ0 58।
3. *कि0 घ0 मशरुवाला : राम और कृष्ण : पृ0 114।*
4. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता : पृ0 18।*
5. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता : पृ0 16।*

के षडयन्त्र चलने लगे। जब कृष्ण राजसूय से लौटकर द्वारिका पहुंचे तो वहां शत्रुओं ने द्वारिका पर चढ़ाई करके नगर नष्ट कर डाला था। श्रीकृष्ण इधर शत्रुओं से संघर्ष कर रहे होते हैं कि उधर कौरव कृष्ण द्वारा प्रतिस्थापित पाण्डवों को जुंये के जाल में फंसाकर बनवास दिलवा देते हैं।[1]

जरासन्ध ने कितने ही राजाओं को अपने यहाँ कैद भी कर रखा था जिससे सब राजा उससे डरते थे और उसका लोहा मानते थे। जरासन्ध को अपने बल का बड़ा भारी अभिमान था और वह सर्वत्र अपने ही राज्य का विस्तार करना चाहता था। उन्नति की पराकाष्ठा को पहुंचे हुये राज्यों में पहली बात जो हम देखते हैं वह यही है कि अपने बल का गर्व और लोभ असीमित बढ़ा हुआ था।

तत्कालीन राजाओं की जो स्थिति थी उसमें अब कृष्ण को एकमात्र रास्ता महासमर ही दिखायी देता था जिसकी आहुति में भस्म होकर केवल शुद्ध धर्मराज्य ही शेष रहे। यदि वह युद्ध न होता तो उस समय के धर्म भ्रष्ट राजपुत्र अपने दुराचार, लोभ, परापहार और अन्तः कलह से देश को किसी गड्ढे में ढकेल देते। यदि कृष्ण ने भारतीय युद्ध कराकर धर्मराज्य स्थापित न किया होता तो भारत में दासत्वकाल के आने में देर न लगती। उस युद्ध के बाद ढाई हजार साल तक भारत में विदेशियों के पैर नहीं पड़ सके। यह उसी धर्मराज्य का प्रताप था कि विदेशियों की चढ़ाइयाँ आरम्भ होने के बाद भी दो हजार वर्ष तक भारत के क्षत्रिय कुल में अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की सामर्थ थी। भारतीय युद्ध के बाद साढ़े चार हजार वर्ष तक दिगदिगन्त में भारत की कीर्ति पताका फहराती रही और दूर-दूर देशों के लोग यहीं आकर धर्म की शिक्षा पाते रहे। यही कृष्ण का मुख्य राजनीतिक विचार था।[2] अधर्म और अनीति को रोकने के लिये ही कृष्ण ने महाभारत युद्ध के उपरान्त यादवों में बढ़ते प्रमोद, अहंकार और उच्छश्रृंखला को देखकर उनको भी आपस में लड़वाकर नष्ट करवा दिया जिससे वे अपनी ताकत के नशे में निरीह जनता पर अत्याचार न करने लगें।[3]

---

1. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता : पृ० 16।*
2. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता : पृ० 18-19।*
3. *कल्याण, फरवरी 1932 : पृ० 154।*
   राधा कमल मुखर्जी : भारत की संस्कृति और कला : पृ० 61।
   वृन्दावनदास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य : पृ० 147।

कृष्ण का समूचा चरित्र निःस्वार्थ न्याय और सत्य की रक्षा के लिये लोक सेवा का एक अनुपम उदाहरण है। यही कृष्ण की राजनीति का मुख्य उद्देश्य था।[1] न केवल राजाओं के बल्कि अन्य के अत्याचारों के भी वे घोर विरोधी थे। कृष्ण ज्यों ही दीक्षा लेकर बैठे त्यों ही एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने उनके पास पहुंचकर अपना संकट निवेदन किया और कहा–''रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।'' कृष्ण–''तुम्हें डरना नहीं चाहिये मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा....ठीक ठीक बताओ तुम्हें किससे भय है। यदि अत्यन्त दुष्कर कार्य हो तो भी उसे कहने में संकोच न करो. ...महाबाहु बलराम और महाबली प्रद्युम्न को छोड़कर अन्य वृष्णि और अन्धकवंशी महारथी तुम्हें अगुआ बनाकर जायें और इस ब्राह्मण की रक्षा करें।'' उस ब्राह्मण के बच्चों को वापिस लाने के लिये समुद्र को पार करके वह उत्तर कुरू में जा पहुंचे। फिर एक ही क्षण में गन्धमावा पर्वत को भी लांघ गये, तदन्तर जयन्त, वैजयन्त, नील, रजत पर्वत, महानेरू, कैलाश और इन्द्रकूट भी उपस्थित हुये....उन ब्राह्मण बालकों को जैसे गये थे वैसे ही लौटा आये।[2] इससे अधिक और लोकोपकारी कार्य क्या हो सकता है कि उन्होंने जरासन्ध की कैद में बन्द 86 शासकों को मुक्त कराने का बीड़ा उठाया और वह भी केवल पाण्डव बन्धुओं की सहायता से। यद्यपि जरासन्ध से उनका बैर पुराना था तथापि अब वे उसकी पहुंच से बहुत दूर थे। उन्हें किसी प्रकार का कोई भय उससे नहीं था। वे बिना उसे पराजित किये ही रह सकते थे। अतः उनका जरासन्ध के विरुद्ध अभियान उन विपत्तिग्रस्त राजाओं की मुक्ति के लिये ही था जो उसके अत्याचार व अन्याय के शिकार हो गये थे। उन्होंने इसीलिये पाण्डवों को प्रभावित किया कि जरासन्ध के कारण उनका राजसूय यज्ञ पूरा नहीं हो सकेगा और जो उसे पहले समाप्त करेगा वह स्वतः ही सम्राट हो जायेगा क्योंकि उसने बलात् क्षत्रियों पर ऐसी स्थिति कायम कर रखी है। कृष्ण ने कहा ''यह बिल्कुल अनहोनी बात है कि किसी राज्य के विधिपूर्वक अभिसिक्त राजा को कोई सम्राट पकड़ रखे। क्षत्रियों का धर्म लड़ाई में मरना है पशु के समान यज्ञ में बलि चढ़ना नहीं। जो अब जरासन्ध के मुकाबले में खड़ा होगा वही उच्चकीर्ति

---

1. *कि० घ० मशरू वाला : राम और कृष्ण, पृ० 116।*
   महाभारत, मार्घशीर्ष 1955 : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ० 715।
2. *महाभारत : पूर्ण संख्या, संख्या 5, वर्ष 4, वैशाख-2016, मई, 1959 : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ० 656-657 एवं 660-661।*

प्राप्त कर सकेगा। जरासन्ध को जो परास्त करेगा वही इस समय सम्राट पद का अधिकारी होगा।''[1] उसके वध से अधीनस्थ राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये। अनेक गण भी निर्भय होकर फिर से अपने जनपदों में वापस लौट आये।[2]

महाभारत युद्धोत्तर व्यक्त कृष्ण के राजनीतिक विचारों का भण्डार अगाध है। वैसे तो वे स्वयं ही विचारों के प्रणेता रहे हैं परन्तु भीष्म द्वारा प्रदत्त राजनैतिक विचार भी उन्हीं के देन थे क्योंकि स्वयं भीष्म उन्हें राजनैतिक विचारों में अपना गुरु मानते थे।'' क्या गुरु के रहते हुये शिष्य उपदेश देने का अधिकारी है।'' स्वयं अपने मुख से न कहकर उन्होंने भीष्म को सम्मान प्रदर्शित करने हेतु अपने ही विचार उनके मुख से कहलवाये ताकि विश्व में भीष्म की ख्याति हो सके। अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुये उन्होंने व्यक्त किया कि ''भीष्म, मुझे इस जगत में आपके महान यश की प्रतिष्ठा करनी है, अतः मैंने अपनी विशाल बुद्धि तुझे समर्पित की है। इसीलिये मैंने आपको दिव्य बुद्धि प्रदान की है कि जिस किसी प्रकार से भी आपके महान यश का इस भूतल पर विस्तार हो....आपकी अवस्था सबसे बड़ी बात है।''[3] इसीलिये कृष्ण उन्हें तीनों लोकां की बातों का बोध कराने वाला दिव्य ज्ञान देकर लौट आये। अतः भीष्म द्वारा व्यक्त राजनीतिक विचारों को कृष्ण के राजनीतिक विचार ही समझना चाहिये।

राजा व राज्य की उत्पत्ति :-

राजा और राज्य की उत्पत्ति विषयक विचारों का प्रतिपादन भी महाभारत में किया गया है। पूर्वकाल में न कोई राज्य था न कोई राजा, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला, समस्त प्रजा धर्म बन्धन में बंधी हुयी एक दूसरे की रक्षा करती थीं।[4] सब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ दिनों के बाद सब लोग पारस्परिक संक्षरण के कार्य में महान कष्ट का अनुभव करने लगे, फिर उन सब पर मोह छा गया। जब सारे मनुष्य मोह के वशीभूत हुये सब मनुष्य लोभ के आधीन हो गये, फिर जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं थी, उसे पाने का

---

1. *सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास : पृ० 119।*
2. *सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास : पृ० 120।*
3. *महाभारत, पूर्ण संख्या 23, संख्या 11, वर्ष 2, भाद्रपद-2014, सित० 1957 : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ० 4550 एवं 4558।*
4. *न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दण्डिकाः ।*
   धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ।। शा०प०, अ० 59, श्लो०-14

प्रयत्न करने लगे। इतने ही में वहां काम नामक दूसरे दोष ने उन्हें घेर लिया। काम के अधीन हुये उन मनुष्यों पर राग नामक शत्रु ने आक्रमण किया। राग के वशीभूत होकर वे यह न जान सके कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य? उन्होंने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा दोष-अदोष कुछ भी नहीं छोड़ा।[1] दुःख, अशान्ति और पारस्परिक कलह मनुष्य के जीवन में व्याप्त हो गयी।[2] मनुष्य का जीवन दुख और विपत्तियों से युक्त हो गया।'' अराजकता की स्थिति में दूसरों के धन का अपहरण करने वाला पापाचारी मनुष्य बड़ा प्रसन्न होता है परन्तु जब दूसरे लुटेरे उसका भी सारा धन हड़प लेते हैं तब वह राजा की आवश्यकता का अनुभव करता है। अराजक देशों में पापी मनुष्य भी कभी कुशलपूर्वक नहीं रह सकते। एक का धन दो मिलकर उठा तो ले जाते हैं और उन दोनों का धन दूसरे बहुसंख्यक लुटेरे लूट लेते हैं। अराजकता की स्थिति में जो दान नहीं है उसे दास बना लिया जाता है और स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है। यदि इस जगत में भूतल पर दण्डधारी राजा न हो तो जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं उसी प्रकार सबल मनुष्य दुर्बलों को लूट खायें। इस प्रकार पूर्वकाल में राजा के न रहने पर प्रजा वर्ग के लोग परस्पर दूसरे को लूटते हुये नष्ट हो गये थे तब उन सबने मिलकर आपस में नियम बनाया-हम लोगों में से जो भी निष्ठुर बोलने वाला भयानक दण्ड देने वाला, परस्त्रीगामी तथा पराये धन का अपहरण करने वाला हो, ऐसे सब लोगों को हमें समाज से बहिष्कृत कर देना चाहिये। कुछ

---

1. *पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।*
   खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ।।15।।
   ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
   प्रतिपत्तिविमोहान्च धर्मस्तेषामनीनशत्।।16।।
   नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
   लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम।।17।।
   अप्राप्तस्याभिमर्शे तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
   कामो नामा परस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो।।18।।
   तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत्।
   रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर।।19।।
   अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
   भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन्।।20।। शा0प0, अ0 59, श्लो0 : 15-20
2. चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत-शान्ति पर्व : पृ0 202।

समय तक इस प्रकार काम चलता रहा किन्तु आगे चलकर पुनः दुर्व्यवस्था फैल गयी तब दुख से पीड़ित हुयी सारी प्रजा ने राजा की स्थापना की और उसे विश्वास दिलाया कि वह डरे नहीं, वे लोग उसके कोष की वृद्धि के लिये प्रति पचास पशुओं पर एक पशु उसको दिया करेंगे। इसी प्रकार सुवर्ण का भी पचासवां भाग देते रहें। अनाज की उपज का दसवां भाग कर के रूप में देंगे। जब उनकी बहुत-सी कन्यायें विवाह के लिये उद्यत होंगी, उस समय उनमें जो सबसे सुन्दर कन्या होगी, उसे वे शुल्क के रूप में उसे भेंट कर देंगे। प्रधान-प्रधान मनुष्य अपने प्रमुख शस्त्रों और वाहनों के साथ उसके पीछे-पीछे चलेंगे।[1] इस प्रकार अराजकता ही राज्य एवं राजा की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी थी। जिस देश में राजा न हो वहां अनेक प्रकार के दोष (चोर आदि के भय) पैदा होते हैं। इसीलिये कृष्ण की दृष्टि में राजा, सम्राट अथवा नेता बिना राज्य का समस्त कार्य ठप्प हो जाता है।''

समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिये उत्पीड़न की इतिश्री के लिये, वर्णसंकरता को रोकने के लिये तथा लोकमर्यादा की रक्षा के लिये राजा की परम आवश्यकता है। सभी राजनीतिशास्त्र वेत्ताओं ने राजा की आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार किया है। कामन्दक ने राजतंत्र के अधिकारी को राजा नाम से सम्बोधित किया है। राजा शब्द के अर्थ से उसकी आवश्यकता से प्रतिबिम्बित होती है। ''राजन'' शब्द और उसके मूल राष्ट्र का शब्दार्थ ''शासक'' है और इसका सम्बन्ध लैटिन भाषा के शब्द रैक्स से है किन्तु भारतीय राजशास्त्रियों ने राजपत्र के अधिकारों को इसलिये राजा की संज्ञा दी है क्योंकि वह प्रजा का

1. *तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तृनेनो गमिष्यति।*
पशूनामधिपन्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च।।23।।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च।।24।।
मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्यः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः।।25।।
स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान्कुबेर इव नैर्ऋतान्।।26।।
यं च धर्मे चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षितः।
चतुर्थ तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति।।27।।
तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवादिव शतक्रतुः।।28।। शा०प०, अ० 67, श्लो० : 23-28

रंजक होता है।[1] शांतिपर्व में राजा शब्द की व्युत्पत्ति 'रंज', धातु से स्वीकारते हुये उसका अर्थ प्रसन्न करना बताया है, अर्थात् राजा ने प्रजा को प्रसन्नता व आनन्द देता है। राजा शब्द का अभिप्राय प्रजा का रंजन करने वाले, धर्म की मूर्ति तथा दीप्तिमान है और यही उसका सर्व प्रधान लक्षण एवं कर्त्तव्य है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा राजा शब्द की ब्याख्या करने का आग्रह किये जाने पर भीष्म उनके प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैं कि समस्त प्रजा को प्रसन्न करने के कारण उसे राजा कहते हैं।[2]

कालीदास ने भी राजा रघु के संदर्भ में यही अर्थ स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु का वर्णन करते हुये लिखा है कि जिस प्रकार सभी का आह्वान कर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना नाम सार्थक किया, उसी प्रकार रघु ने भी प्रजा का रंजन करके अपना राजा नाम सार्थक कर दिया।[3] अतः प्रजा का रंजन करने के कारण ही उसे राजा कहा जाता है।

आचार्य शुक्र ने राजा का कर्त्तव्य बताया है कि वह प्रजा का रंजन करें।[4] राजा के कारण ही समाज में शान्ति-व्यवस्था स्थापित रहती है एवं प्रजा निर्बाधरूप से निवास करती है तथा धर्म, अर्थ एवं काम त्रिवर्ग के फल की प्राप्ति करती है। आचार्य सोमदेव सूरि ने भी राजा के महत्व को उसके महान कर्त्तव्यों के वर्णन द्वारा व्यक्त किया है। वह अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग फल के दाता, राज्य को नमस्कार करते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि समस्त सुखों की प्राप्ति राज्य के द्वारा ही प्रजा को होती है। सोमदेव ने दुष्टों का निग्रह करना तथा सज्जन पुरुषों का पालन करना राजा का परम धर्म बतलाया।[5]

बाल्मीकि रामायण में राजा का महत्त्व बताते हुये कहा गया है कि कि जिस प्रकार रथ ध्वजा द्वारा पहचाना जाता है, घूप से अग्नि का बोध होता है उसी प्रकार प्रजा का परिचय राजा के द्वारा होता है।[6] बृहस्पति के अनुसार राजा रहित देश में कृषि, वाणिज्य,

---

1. *डॉ0 के0 पी0 जायसवाल : हिन्दू राजतन्त्र (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ 1।*
2. *तेन धर्मोत्तरश्चार्य कृतो लोको महात्मना।*
   रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ।। शा0प0, अ0 59, श्लो0-125
3. *रघुवंश : अध्याय 4, श्लोक 12।*
4. *शुक्रनीतिसार : अध्याय 1, पृष्ठ 744।*
5. *नीतिवाक्यामृत : अध्याय 5, श्लोक 2।*
6. *ध्वजा रथस्य........................देवत्व मितांगतः।। अ0का0, सर्ग 67, श्लोक-30.*

लेन-देन, प्रजा रक्षण कार्य प्रतिपादित नहीं किये जा सकते। वर्णाश्रम धर्म के उचित रूप में पालन करने के लिये मनुष्यों का नेता (राजा) पहले ही निर्मित किया गया है।[1]

ऐतरेय ब्राम्हण में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है- ''देवताओं ने राक्षसों द्वारा अपनी निरन्तर पराजय के कारणों पर विचार किया, तो वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उनकी पराजय इसलिये होती है कि उनका कोई राजा नहीं है। अतः उन्होंने सर्वसम्मति से राजा का निर्वाचन किया।'' इससे प्रकट होता है कि युद्ध की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप राजसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ।

राजा के स्वरूप, लक्षण तथा विशेषताओं विषयक विचार :-

राजा ही सदा समयानुसार पांचरूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी आदित्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यम बन जाता है।[2] जब पापात्मा मनुष्य राजा के साथ मिथ्या बर्ताव करके उसे ठगते हैं, तब वह अग्नि का रूप धारण करता है और अपने उग्र तेज से समीप आये हुये उन पापियों को जलाकर भस्म कर देता है।[3] जब राजा गुप्तचरों द्वारा समस्त प्रजाओं की देखभाल करता है और उन सबकी रक्षा करता हुआ चलता है तब वह आदित्य देव का रूप धारण करता है।[4] जब राजा दुष्टों का निग्रह करने के लिये क्रोध में भरकर सैकड़ों मनुष्यों का उनके पुत्र, पौत्र और मंत्रियों सहित संहार करता है तब वह मृत्यु रूप धारण करता है।[5] जब राजा उपकारी पुरुषों को धन रूपी जल की धाराओं से तृप्त करता है और अपकार करने वाले दुष्टों के नाना प्रकार के रत्नों को छीन लेता है, किसी राजहितैषी को धन देता है तो किसी राजविद्रोही के धन का अपहरण का लेता है, उस समय वह पृथ्वीपालक नरेश इस

---

1. *नाराज के कृषिवाणिक.............................निर्मितःपुरा ।। बृहस्पति स्मृति अ० 1, 8, 9।*
2. *कुरुते पन्चरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा।*
   भवत्याग्निस्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणों यमः।। शा०प०, अ० 68, श्लो० : 41।
3. *यदा ह्यसीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा।*
   मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः।। शा०प०, अ० 68, श्लो० : 42।
4. *यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः।*
   क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः।। शा०प०, अ० 68, श्लो० : 43।
5. *अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान्।*
   सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः।। शा०प०, अ० 68, श्लो० : 44।

संसार में कुबेर का रूप धारण करता है।[1] जब वह कठोर दण्ड के द्वारा समस्त अधार्मिक पुरुषों को काबू में करके सन्मार्ग पर लाता है और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है, उस समय वह यमराज का रूप धारण करता है।[2]

कौटिल्य ऐसा मानते हैं कि इन्द्र और यम दोनों के पद राजपद में सन्निहित है।[3] शुक्र भी राजा का निर्माण इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य, अग्नि, वायु और चन्द्र इन आठ प्रधान देवों के तत्वों से मानते हैं।[4]

गुप्तकाल में राजा को अचिंत्य पुरुष और लोक को धारण करने वाला समझा गया है।[5] मत्स्य पुराण में उल्लेख है कि-सब प्राणियों की रक्षा के प्रयोजन से और न्यायपूर्वक दण्ड के प्रणयन के लिये देवताओं के अंश लेकर स्वयंभू ने राजा की सृष्टि की है।[6] विष्णुपुराण में कहा गया है कि- ब्रम्हा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण, घाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्र तथा इनके अतिरिक्त और भी जितने देव शाप देने और कृपा करने में समर्थ्य हैं

---

1. *यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।*
   आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम्।। शा०प०, अ० 68, श्लो० : 46।
   श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति।
   तदा वैश्रवणों राजा लोके भवति भूमिपः।। शा०प०, अ० 68, श्लो० : 47।
2. *यदा त्वधार्मिकान् सर्वोस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति।*
   धार्मिकांश्चानुगृह्यति भवत्यथ यमस्तदा।। शा०प०, अ० 68, श्लो० : 45।
3. *इन्द्रयमस्थानमैतद्राजानः।। - अर्थशास्त्र, वार्ता 10, अ० 13, अधि० 1।*
4. *इन्द्रानिलयमार्काणामगनेश्च वरुणस्य च।*
   चन्द्र वित्तेश योश्चापि मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।। शुक्रनीति, अध्याय 1, श्लोक 71।
5. *अचिंत्यपुरुष धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य लोकधाम प्रलय हेतु।।*
   -समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ अभिलेख।
6. *दण्ड प्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयम्भुवा।*
   देवभागानुपादाय सर्वभूतादि गुप्तये।। - मत्स्यपुराण 226।1।

वह सभी राजा के शरीर में वास करते है। इस प्रकार राजा सर्वदेवमय है।[1] बृहस्पति स्मृति के अनुसार सोम, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर और यम के तेजमय अंशो को संग्रहीत कर राजा की मूर्ति की रचना हुई है।[2]

राजा और सम्राट की स्थिति कृष्ण के राजनीतिक विचारों के अनुसार किन्ही अनिवार्य शर्तों को पूरा करने पर ही प्राप्त होती है। उनके अनुसार "भागीरथ प्रजा का पालन करने से, कर्तवीर्य तप बल से तथा राजा भरत स्वाभाविक बल से सम्राट हुये थे....सम्राट प्राप्ति के लिये पांच गुण-शत्रु, विजय, प्रजा पालन, तप शक्ति, धन समृद्धि और उत्तम नीति है।"..[3] जो राजा गुणी, शीलवान, सरल स्वाभाव, कोमल प्रकृति, धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय, प्रसन्नमन, स्थूल लक्ष्य वाला और बड़ा उदार होता है उस पर राजलक्ष्मी की सदा कृपा रहती है।[4] जो राजा कोमल स्वभाव वाला होता है। उसका सब लोग अपमान कर बैठते हैं और उग्र स्वभाव वाले राजा से प्रजाजन डरा करते हैं। अतः राजा को समयानुसार अथवा आवश्यकतानुसार कोमल और उग्र होना चाहिये।[5] राजा न तो नितान्त मृदु और न अति उग्र। राजा को तो बसन्तकालीन सूर्य की तरह न तो प्रखर आतप वाला होना चाहिये और न अति शीतल ही होना चाहिये।[6] क्रूर राजा, पुष्पमृदु स्वभाव वाला राजा विशाल राज्य का कार्य नहीं चला सकता जिस राज्य को सभी हड़प जाना चाहते हैं। अतः राजा को क्रूरता और मृदुता दोनों ही का सहारा लेना चाहिये और उसी के आधार पर शासन कार्य चलाना चाहिये। राजा सदैव पुरुषार्थी

---

1. ब्रम्ह जनार्दनः शम्भुरिन्द्रो वायुर्ममो रविः।
   हुत भुग्वरुणोघाता पूषा भूमिर्मिशाकरः ।।
   एते चान्ये च ये देवाः शापनुग्रहकारिणः ।
   नृपस्यते शरीरस्थाः सर्व देवमयो नृपः।। विष्णुपुराण 1।13-14
2. सोमारन्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्यत्योयमस्य च।
   तेजो मात्रंसमुध्धृत्य राज्ञो मूर्तिर्हिनिर्मिता ।। - बृहस्पतिस्मृति, काण्ड 1, श्लोक 6, 7।
3. हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पा०) : महाभारत, पृ० ७।२ |
4. गुणवान्शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्योंजितेन्द्रियः।
   सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः।।शा०प०, अ० 56, श्लो० : 19।
5. मृदुर्हि राजा सततं लंघ्यो भवति सर्वशः।
   तीक्ष्णान्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय।।शा०प०, अ० 56, श्लो० : 21।
6. तस्मैन्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णों नैव भवेन्नृपः।
   वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च धर्मदा।।शा०प०, अ० 56, श्लो० : 40।

होना नितान्त आवश्यक है। जो राजा सदैव उद्योग रत न होकर स्त्री की तरह निठल्ला बैठा रहता है उस राजा की लोग प्रशंसा नहीं करते।[1] राजाओं के कार्य केवल दैव पर निर्भर रहकर और बिना पुरुषार्थ के सिद्ध नहीं होते हैं। यदि प्रारम्भ किया हुआ कोई कार्य निष्फल हो जाय तो उसके लिये तुम्हें संताप न करना चाहिये बल्कि आरंभ किये हुये कार्य की सफलता के लिये निरन्तर उद्योग करते रहना चाहिये क्योंकि ऐसा करना राजाओं की सर्वोत्तम नीति है।[2]

राजा को अपने नौकरों चाकरों के साथ हास-परिहास नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से जो विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं उससे स्वामी का अपमान होता है। नौकर स्वामी का अपमान करने लगते हैं। अपने पद की मर्यादा को भूल जाते हैं। वे अपने स्वामी की आज्ञा पालन नहीं करते। यदि कहीं राजा कोमल स्वभाव का हंसमुख हुआ तो पग-पग पर वे उसका अपमान करते हैं और उसकी सवारियों, हाथियों, घोड़ों और रथों पर स्वयं सवार ही घूमा करते हैं। जो वस्तु नहीं मांगनी चाहिये उसे भी मांग बैठते हैं तथा राजा के रखे हुये भोज्य पदार्थों को स्वयं खा लेते हैं।[3] जो राजा लोभी और कपटी होता है उस राजा को अक्सर हाथ आते ही उसके सेवक और कुटुम्बी मार डालते हैं। जो राजा भीतर-बाहर से एक सा पवित्र रहता है वही उत्तम है। राजा की धैर्यच्युत कभी न होना चाहिये। जो राजा धैर्यवान है और कुमार्गियों पर शासन करने वाला प्रसिद्ध हो जाता है वही किसी से कभी डरता नहीं है। राजा को चाहिये कि उदण्डता छोड़कर विनीत भाव से मानवीय पुरुषों का आदर-सत्कार करे, निष्कपट भाव से गुरुजनों की सेवा करे, दम्भहीन होकर देवताओं की पूजा करे, हठ छोड़कर प्राप्ति का पालन करे, कार्य कुशल हो, किन्तु अवसर के ज्ञान से शून्य न हो, केवल पिण्ड छुड़ाने के लिये किसी को सान्त्वना या भरोसा न दे, किसी पर कृपा करते समय आक्षेप न करे, बिना जाने किसी पर प्रहार न करे, शत्रुओं को मारकर शोक न करे,

---

1. *नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिरः।*
   प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः।। शा०प०, अ० 57, श्लो० : 1।
2. *विपन्ने च समारम्भे संतापं मा स्म वै कृथाः।*
   घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः।। शा०प०, अ० 56, श्लो० : 16।
3. *शा० प०, अ० 56, श्लो० : 49-56 एवं 61।*

अकस्मात किसी पर क्रोध न करे तथा कोमल हो परन्तु अपकार करने वालों के लिये नहीं।[1] उसमें शास्त्र ज्ञान, धर्मपरायणता तथा प्रजा पालन की लगन भी होनी चाहिये। राजा धीर, क्षमाशील, पवित्र, समय-समय पर तीक्ष्ण पुरुषार्थ को जानने वाला, सुनने के लिये उत्सुक वैदग्य, श्रवण परायण तथा तर्क-वितर्क में कुशल हो। राजा को दान की परम्परा का कभी उच्छेद न करने वाला, श्रृद्धालु, दर्शनमात्र से सुख देने वाला, दीन-दुःखियों को सदा हाथ का सहार देने वाला, विश्वसनीय मंत्रियों से युक्त तथा नीति परायण होना चाहिये। वह अहंकार छोड़ दे, द्वन्दों से प्रभावित न हो, जो ही मन में आवे वही न करने लगे, मंत्रियों के किये हुये कर्म का अनुमोदन करे और सेवकों पर प्रेम रखे। अच्छे मनुष्यों का संग्रह करे, जड़ता को त्याग दे, सदा प्रसन्न मुख रहे सेवकों का सदा ख्याल रखे, किसी पर क्रोध न करे, अपना हृदय विशाल बनाये रखे, जिसके योद्धा में वीरता दिखाने वाले, कृतज्ञ, शस्त्र चलाने की कला मे कुशल, धर्मशास्त्र के ज्ञान से सम्पन्न, पैदल, सैनिकों से घिरे हुये, निर्भय, हाथी की पीठ पर बैठकर युद्ध करने में समर्थ, रथ-सैनिकों से घिरे हुये, निर्भय, हाथी की पीठ पर बैठकर युद्ध करने में समर्थ, रथचर्या में निपुण तथा धनुर्विद्या में प्रवीण होते है उसी राजा के अधीन इस भूमण्डल का राज्य होता है। जो जाति-भाइयों का अपमान तथा सेवकों के प्रति शत्रुता कभी नहीं करता और कार्य साधन में कुशल है उसी राजा के अधिकार में यह पृथ्वी रहती है। राजा में सबसे समझ-बूझकर युक्ति से काम निकालने की बुद्धि होनी चाहिये। वह विद्वान होने के साथ ही लोगों को कर्तव्य की प्रेरणा दे और अकर्तव्य की ओर जाने से रोके।[2] राजा बगुले के समान एकाग्र चित्त होकर कर्तव्य विषय का चिन्तन करे। सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे। भेड़िये की भांति सहसा आक्रमण करके शत्रु का धन लूट ले तथा बाज की भांति शत्रुओं पर टूट पड़े। राजा बांस का धनुष बनावे, हिरन के समान सोये, अन्धा बने रहने योग्य समय हो तो अन्धे का भाव किये रहे और अवसर के अनुसार बधिर का भाव स्वीकार कर ले।[3]

---

1. *महाभारत, पूर्ण संख्या 22, संख्या 10, वर्ष 2, श्रावण-2014, अगस्त 1957 : सम्पादक- हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 4609।*
2. *महाभारत : सम्पादक- हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 4725-4729।*
3. *शा0 प0, अध्याय 120, श्लोक-8।*

राजा को तीन कामों में सरलता से काम न लेना चाहिये। वे तीन काम ये हैं-निज दोष गोपन, शत्रु के दोष खोजना, राजा को वृद्ध पुरुषों की उपासना करनी चाहिये। जो बुद्धिमान, त्यागी शत्रुओं की दुर्बलता जानने की प्रयत्न में तत्पर, देखने में सुन्दर, सभी वर्णों के न्याय और अन्याय को समझने वाला, शीघ्र कार्य करने में समर्थ, क्रोध पर विजय पाने वाला, आश्रितों पर कृपा करने वाला, महामनुष्वी, कोमल स्वभाव से युक्त, उद्योगी, कर्मठ तथा आत्मा प्रशंसा से दूर रहने वाला है, जिस राजा के प्रारम्भ किये हुये सभी कार्य सुन्दररूप से समाप्त होते दिखाई देते हैं वह समस्त राजाओं में श्रेष्ठ है। जैसे पुत्र पिता के घर में निर्भीक होकर रहते हैं उसी प्रकार जिस राजा के राज्य में मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं वह सब राजाओं में श्रेष्ठ है।[1] जिसके राज्य अथवा नगर में निवास करने वाले व्यक्ति अपने धन को छिपाकर न रखते हों तथा न्याय और अन्याय को समझते हों वह राजा समस्त राजाओं में श्रेष्ठ हैं।[2] जिसके राज्य में निवास करने वाले लोग विधिपूर्वक एवं पालित होकर अपने-अपने कर्म में संलग्न, शरीर में आसक्ति न रखने वाले और जितेन्द्रिय हों, अपने वश में रहते हों, शिक्षा देने और ग्रहण करने योग्य हों, आज्ञा पालन करते हों, कलह और विवाद से दूर रहते हों और दान देने की रूचि रखते हों वह राजा श्रेष्ठ है।[3] जिस भूपाल के राज्य में कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो उसी के द्वारा सनातन धर्म का पालन होता है।[4] जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किये हुये करने योग्य कर्म और किये हुये कर्म शत्रुओं द्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य पाने का अधिकारी है।

राजा को अपने राजकीय विचार गुप्त रखने चाहिये और परछिद्रान्वेषण में तत्पर रहना चाहिये। नगर, जनपद तथा मल्ल लोग जहां व्यायाम करते हों, उन स्थानों में ऐसी युक्ति से गुप्तचर नियुक्त करने चाहिये, जिससे वे आपस में भी एक दूसरे को पहचान न सकें। राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा बाजारों, लोगों के घूमने-फिरने के स्थानों, सामाजिक उत्सवों,

---

1. *पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।*
   नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ।। शा० प०, अध्याय 57, श्लोक 33।
2. *शा० प०, अध्याय 57, श्लोक 34।*
3. *शा० प०, अध्याय 57, श्लोक 35-36।*
4. *न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।*
   सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति।।शा० प०, अध्याय 57, श्लोक 37।

भिक्षुओं के समुदायों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानों की सभाओं, विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओं में शत्रुओं के भेजे हुये गुप्तचरों का पता लगाते रहना चाहिये।[1] इस प्रकार बुद्धिमान राजा शत्रु के गुप्तचरों की टोह लेता रहे। यदि उसने शत्रु के गुप्तचर का पहले ही पता लगा लिया तो इससे उसका बड़ा हित होता है। जिन लोगों की अच्छी तरह परीक्षा कर ली गयी हो, जो बुद्धिमान होने पर भी देखने में गूंगे, अंधे और बहरे से जान पड़ते हों तथा जो भूख-प्यास और परिश्रम सहने की शक्ति रखते हों, राजा ऐसे लोगों को ही गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यों में नियुक्त करें।[2] मयूर जिस तरह शरद ऋतु में मौन धारण कर लेता है उसी प्रकार राजा को भी गुप्त मंत्रणा के सम्बन्ध में मौन रहना चाहिये। जिसके गुप्तचर, गुप्तविचार, निश्चय किये हुये करने योग्य कर्म और किये हुये कर्म शत्रुओं द्वारा कभी जाने न जा सकें वही राजा राज्य पाने का अधिकारी है।[3]

सदैव पराक्रमी, सत्यवादी और आवश्यकतानुसार क्षमावान बन जो राजा ऐसा करता है उसका कभी कल्याण नहीं रुकता। वही राजा होने योग्य है जो सदा सत्य बोले और व्यवहार में सरलता से काम ले। जिस राजा की प्रजा के लोग धर्म-कर्म में निरत रहते हैं, शरीर की मोह-ममता में नहीं फंसते किन्तु जो शरीर साध्य कार्यों पर आस्था रखते हैं, शान्त-शिष्ट होते हैं, जिसके राज्य के लोग अपने राजा के वश में रहते हैं तथा समझाने से मान जाते हैं, आज्ञानुवर्ती कलह न करने वाले और दानशील होते हैं उसी को श्रेष्ठ राजा समझो। कृष्ण उस राजा को श्रेष्ठ मानते थे जो क्षत्रियों में भी राजसिंहासन पर आसीन होने के बाद अपने धर्म का पालन और प्रजा की भली भांति रक्षा करता है, लगान के रूप में प्रजा की आमदनी को छठा भाग लेकर सदा उतने से ही सन्तोष करता है, यज्ञ और दान करता है, धैर्य रखता है, अपनी स्त्री से सन्तुष्ट रहता है, शास्त्र के अनुसार चलता है, तत्व को जानता है और प्रजा की भलाई के कार्य में संलग्न रहता है तथा ब्राह्मणों की इच्छा पूर्ण करता है, पोष्य वर्ग के पालन के तत्पर रहता है, प्रतिज्ञा को सत्य करके दिखाता है, सदा पवित्र रहता एवं लोभ और

---

1. *शा० प०, अध्याय 69, श्लोक 11-12।*
2. *प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जिडान्धबधिराकृतीन।पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् शा०प०ःअ 69/8।*
3. *शा० प०, अध्याय 57, श्लोक 39।*

दंभ को त्याग देता है उस क्षत्रिय को भी देवताओं द्वारा सेवित उत्तम गति की प्राप्ति होती है।[1] कृष्ण ने धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुये उत्तम राजा के लक्षणों की व्याख्या करते हुये स्पष्ट राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति की, ''जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो राजा स्वयं दोषों को देखता और देशकाल के विभाग को समझता है, वह परम कल्याण का भागी होता है। जो हित की बात बताने पर भी हिताहित की बात को नहीं समझ पाता, वह अन्याय का आश्रय ले बड़ी भारी विपत्ति में पड़कर शोक करता है।[2]

राजा के दायित्व एवं सहयोगियों विषयक विचार :-

राजा के कर्त्तव्य एवं व्यक्तिगत दायित्व बहुत बताये गये हैं। ''वह स्वयं नित्य प्रजा की देखभाल किया करे। जो प्रधान कार्य हों उसे अपनी आंखों के आगे पूरा कर देना चाहिये।[3] स्वयं किसी पर भी विश्वास न करे।[4] इसके अतिरिक्त उससे सामान्य प्रबन्ध में नियन्त्रण की अपेक्षा भी की गयी है'', राजा को उचित है कि समय-समय पर अपने नौकरों को धन आदि से उनके कार्यों को पुरुस्कृत किया करे, बड़े यत्न से अपने राज्य में सत्पुरुषों का संग्रह करे, दुःखी मनुष्यों की और पुराने कुलीनों की खोज करे, सत्पुरुषों का त्याग न करे, अपने निकट कुलीन पुरुषों को रखे, बुद्धिमान जनों को अपना सहायक बनावे, सैनिकों का उत्साह बढ़ाता रहे, काम करने में उदासीन न हो, भण्डारों की वृद्धि करे, नगर की रक्षा करे और अन्ध ा विश्वासों से काम न ले। राजा किसी की निन्दा न तो स्वयं करे और न किसी की निन्दा सुने। यदि राजा के सामने कोई किसी की निन्दा करने लगे और निन्दक को रोकने की उसमें शक्ति न हो तो वह राजा उस स्थान से उठकर अन्यत्र चला जाये।[5]

---

1. *महाभारत, पूर्ण संख्या 32, संख्या 8, वर्ष 3, ज्येष्ठ-2015, जून 1958 : सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 6311।*
2. *महाभारत, पूर्ण संख्या 22, संख्या 10, वर्ष 2, श्रावण 2014, अगस्त 1957 : सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 4394।*
3. *शा0 प0, अध्याय 69, श्लोक 9।*
4. *शा0 प0, अध्याय 57, श्लोक 16।*
5. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-अनु0 पर्व (द्वितीय खण्ड) : पृं0 5।*

गुप्तचर रखना, दूसरे राष्ट्र में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करना, सेवकों को उनके प्रति ईर्ष्या न रखते हुये समय पर वेतन और भत्ता देना, जिसको जो कुछ देना हो उसे वह समय पर दिलाने की व्यवस्था करे, युक्ति से काम लेना, अन्याय से प्रजा के धन को न हड़पना, सत्पुरुषों का संग्रह करना, शूरता, कार्य दक्षता, सत्य भाषण, प्रजा का हित चिन्तन, सरल या कुटिल उपायों से भी शत्रु पक्ष में फूट डालना, पुराने घरों की मरम्मत एवं मन्दिरों का जीर्ण-उद्धार कराना, दीन दुखियों की देखभाल करना, समयानुसार शारीरिक और आर्थिक दोनों प्रकार के दण्ड का प्रयोग करना, साधु पुरुषों का त्याग न करना, कुलीन मनुष्यों को अपने पास रखना, संग्रह योग्य वस्तुओं का संग्रह रखना, बुद्धिमान पुरुषों का सेवन करना, पुरुस्कार आदि के द्वारा सेना का हर्ष और उत्साह बढ़ाना, नित्य निरन्तर प्रजा की देखभाल करना, कार्य करने में कष्ट का अनुभव न करना, कोष को बढ़ाना, नगर की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करना, इस विषय में दूसरों के विश्वास पर न रहना, पुरवासियों ने यदि कोई गुटबन्दी की हो तो उसमें फूट डलवा देना, शत्रु, मित्र और मध्यस्थों पर यथोचित दृष्टि रखना, दूसरों के द्वारा अपने सेवकों में भी गुटबन्दी न होने देना, स्वयं ही अपने नगर का निरीक्षण करना स्वयं किसी पर भी पूरा विश्वास न करना, दूसरों को आश्वासन देना, नीति धर्म का अनुसरण करना, सदा ही उद्योगशील बना रहना, शत्रुओं की ओर से सावधान रहना और नीच कर्मो और दुष्ट पुरुषों को सदा के लिये त्याग देना यह सभी राज्य की रक्षा के साधन हैं और राजा के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व हैं।[1]

सर्वप्रिय होने के लिये राजा को प्रजा रक्षक होना आवश्यक हैं जैसे- बाहु के राजा सागर ने अपनी प्रजा के हित-साधन के लिये अपने ज्येष्ठ राजकुमार असमंजस को त्याग दिया था। असंमजस प्रजा जनों के बालकों को पकड़कर सरयू नदी में डुबो दिया करता था। अतः राजा सागर ने असमंजस को अपने देश से निकाल दिया। राजा का कर्तव्य है कि अपने प्रजा जनों को प्रसन्न रखे।[2] जो अपने प्रजा जनों को संतुष्ट कर उनका मन अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है वह राजा यदि शत्रुओं द्वारा घेर भी लिया जाय तो भी वह राज्य भ्रष्ट नहीं होता।

---

1. *शा० प०, अध्याय 58, श्लोक 5-12।*
2. *शा० प०, अध्याय 59, श्लोक 125।*

यदि पराजित हो भी जाय तो अपने सहायकों की सहायता से पूर्ववत हो जाता है।[1] जिस राजा के प्रजा जनों का ऐश्वर्य प्रकट रहता है जिसकी प्रजा के लोग नीति-अनीति को जानते हैं वह राजा उत्तम है। उस राजा को सनातन धर्मावलम्बी समझना चाहिये। जो अपनी प्रजा का यथार्थ रूप से पालन करता है। राज्याभिलाषी राजाओं को अपनी प्रजा की रक्षा करने के अतिरिक्त और कोई भी सनातन धर्म नहीं क्योंकि रक्षा कार्य प्रजाजनों को प्रसन्न करने वाला है।[2] यदि प्रजा रक्षण करते हुये राजा पर कोई संकट आ जाय तो भी राजा को उचित है प्रजा रक्षण को अपना परम धर्म माने क्योंकि प्रजा की रक्षा करना राजा का परम धर्म है और परमावश्यक भी।[3] जिस राजा को राज्य पाने की कामना हो वह अपनी प्रजा को कभी कुन्द न करे।[4] राजा को प्रजा का सत्कार करना चाहिये।[5] धर्मात्मा और सत्यवादी राजा ही अपने प्रजा के लोगों को सदा प्रसन्न रख सकता है।[6] वह काम योग में आसक्त न होकर समस्त प्रजाओं के साथ समान भाव से बर्ताव करे और पाप पूर्ण इच्छाओं का कदापि अनुसरण न करे।[7] राजा का कर्तव्य है कि वह लोगों को सन्तुष्ट रखने के लिये मर्यादा और सुव्यवस्था को बनाये रखे।[8]

प्रजापालक होने के साथ नरेश का यह भी कर्तव्य है कि "सावधानी के साथ-साथ वर्णों का पालन कराते हुये ही उन्हें अपने-अपने धर्म में लगावे।[9] राजा का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करे। राजा जब कभी कर्म साध्य होता देखे तो तुरन्त उसे रोक दे।[10] राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का सा बर्ताव होना चाहिये। राजा को अपने

---

1. *महाभारत : सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 197।*
2. *महाभारत : सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 198।*
3. *महाभारत : सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 200।*
4. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-शान्ति पर्व (द्वितीय खण्ड) : पृं0 4।*
5. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-शान्ति पर्व (द्वितीय खण्ड) : पृं0 6।*
6. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-शान्ति पर्व (प्रथम खण्ड) : पृं0 192।*
7. *महाभारत : सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 2111।*
8. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-अनु0 पर्व (प्रथम खण्ड) : पृं0 6।*
9. *चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।*
   धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः।। शा0 प0, अध्याय 57, श्लोक 15।
   डॉ0 काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास : खण्ड द्वितीय, पृष्ठ 602-603।
10. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-शान्ति पर्व (प्रथम खण्ड) : पृं0 195।* को प्रिय

लगने वाले विषय का परित्याग करके वही कार्य करे जिसमें सब लोगों का हित हो ।[1]

जो भूपाल ऐश्वर्य होना चाहे उसे उचित है कि वह ऐसे लोगों को अपना सहायक बना ले जो वीर हों, भक्त हों, जिन्हें बैरी अपनी ओर मोड़ न सके, जो शालीन हों, जो शरीर से स्वस्थ हों, जो उच्च विचार उच्च बर्ताव करने वाला हो, जो समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो, जो लोग व्यवहार कुशल हों, जो शत्रुओं की देखभाल रखते हों, जो कर्तव्यपरायण हों, विपक्षी पड़ने पर अचल पर्वत की तरह और अटल रहने वाले हों। अपने सहायकों को राजा केवल छत्र लगाने का तथा आज्ञा देने का तो अधिकार न दे किन्तु उनकी खातिरदारी में कोई कसर न छोड़े। ऐसे अपने सहायकों के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष में समान व्यवहार करे। जो राजा ऐसा व्यवहार करता है उसे पीछे पछताना नहीं पड़ता है।[2] राजा अपने पिता के सेवक को छोड़कर अन्य किसी मनुष्य पर विश्वास न करे साथ ही जो अत्यन्त विश्वस्त हों उसका भी सदा विश्वास न करे,[3] किन्तु जो राजा सबके ऊपर सन्देह करता है वह प्रजा की आस्था खो देता है।

राजा के विविध कर्त्तव्यों विषयक विचार :-

राजा को आत्महित का परित्याग करके लोकहित के विभिन्न लोकरंजनकारी कार्यों का विधिवत सम्पादन करना ही सनातन धर्म बताया गया है। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो अकाल ही लोगों की मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत् डाकुओं के आधीन हो जाये और घोर नरक में गिर जाये। यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घृणा न हो, खेती नष्ट हो जाये, व्यापार चौपट हो जाये, धर्म डूब जाये और तीनों वेदों का कहीं पता न चले।[4] सारे कर्तव्यों को पूरा करके पृथ्वी का अच्छी तरह पालन तथा नगर एवं राष्ट्र की प्रजा

---

1. *शा० प०, अध्याय 56, श्लोक 45-46।*
2. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-अनु० पर्व (प्रथम खण्ड) : पृं० 196।*
3. *श्री चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-अनु० पर्व (प्रथम खण्ड) : पृं० 195।*
4. *न योनिदोषो वर्तत न कृषिर्न वणिकपथः।*
   मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत्।। शा० प० : अध्याय 68, श्लोक : 21।

का संरक्षण करने से राजा परलोक में सुख पाता है।[1] यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो बलवान मनुष्य दुर्बलों की बहू-बेटियों को हर ले जाये और अपने घर-बार की रक्षा के लिये प्रयत्न करने वालों को मार डालें। राजा जो प्रजा की रक्षा करता है यही उसका सबसे बड़ा धर्म है।[2] यदि पृथ्वी का पालन करने वाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता है तो समस्त आभूषणों से विभूषित हुयी सुन्दर स्त्रियां किसी पुरुष को साथ लिये बिना ही निर्भय होकर मार्ग से आती-जाती हैं।[3] जब दो मनुष्य मिलकर एक की वस्तु छीन लेते हैं, बहुत से मिल दो को लूटते हैं तथा कुवांरी कन्याओं पर बलात्कार होने लगता है, उस समय इन सारे अपराधों का कारण राजा को ही बताया जाता है। जब राजा के बहुत से कर्मचारी देश में अन्यायपूर्ण बर्ताव करने लगते हैं तब वह महान पाप राजा को लगता है। जो राजा अर्थसिद्धि की चेष्टा नहीं करता और स्वेच्छाचारी हो, बढ़-बढ़कर बातें बनाता है वह सारी पृथ्वी का राज्य पाकर भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। जिस राजा के राज्य में ब्राम्हण चोरी करने लग जाता है वह राजा अपराधी माना जाता है। विचारक पुरुष इसे राजा का ही अपराध और पाप समझते हैं।[4] जब राजा रक्षा करता है, तब सब लोग धर्म का पालन करते हैं। कोई किसी की हिंसा नहीं करता और सभी एक-दूसरे पर अनुग्रह रखते हैं।[5] डाकुओं से पीड़ित होकर कष्ट पाते हुये अनाथ मनुष्यगण जिसकी शरण में जाकर सुखपूर्वक रह सकें उसी को अपने बन्धु-बान्धवों के समान मानकर बड़ी प्रसन्नता के साथ उसका आदर सत्कार करना उनके लिये उचित है। क्योंकि जो निर्भय होकर बार-बार दूसरों के संकट निवारण कर सके, वही राज्योचित सम्मान पाने योग्य है। जो बोझ न ढो सके, ऐसे बैलों से क्या लाभ? जो दूध न दे सके ऐसी गाय किस काम की? जो बांझ हो ऐसी स्त्री से क्या प्रायोजन? और जो रक्षा न कर सके ऐसे

---

1. *कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् सम्पाल्य मेदिनीम्।*
   पालइत्वा तथ पौरान् परत्र सुखमेधते।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 72।
2. *शा० प० : अध्याय 57, श्लोक : 42।*
3. *शा० प० : अध्याय 68, श्लोक : 32।*
4. *शा० प० : अध्याय 76, श्लोक : 12।*
5. *धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्।*
   अनुग्रहन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः।। शा० प० : अध्याय 68, श्लोक : 33।

राजा से क्या लाभ है ?[1] जब डाकू और लुटेरे धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करके स्वेच्छाचार में प्रवृत्त हुये हों और प्रजा में वर्ण संकरता फैला रहे हों, उस समय इस अत्याचार को रोकने के लिये यदि सभी वर्णों के लोग हथियार उठा लें तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता। जो अपार संकट से पार लगा दे, डूबते हुये को जो नाव बन कर सहारा दे, वह शूद्र हो या अन्य, सर्वथा सम्मान के योग्य है।[2] चोरों या लुटेरों ने यदि किसी के धन का अपहरण कर लिया हो और राजा पता लगाकर उस धन को लौटा न सके तो उस असमर्थ नरेश को[3] चाहिये कि वह अपने आश्रय में रहने वाले उस मनुष्य को उतना ही धन राजकीय खजाने से दे दे। जो राजा कामासक्त हो सदा काम का ही चिन्तन करने वाला क्रूर और अत्यन्त लोभी होता है वह प्रजा का पालन नहीं कर सकता।[4] दीन, अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियों के योग क्षेम एवं जीविका का सदा ही प्रबन्ध करे।[5] यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता तो उसके राज्य में प्रजा जो कुछ भी अशुभ कार्य करती है, उस पाप कर्म का एक चौथाई भाग राजा को भोगना पड़ता है।[6] अतः राजा को चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिये, प्रजा को धर्म संकरता से बचाना राजाओं का कर्तव्य है।[7] कौटिल्य ने भी वर्ण-व्यवस्था की रक्षा करना राजा का कर्तव्य निर्धारित करते हुये कहा है कि दण्ड द्वारा राजा से सुरक्षित हुये चारों वर्ण और आश्रम अपने-अपने धर्म और कर्म में संलग्न रहते हैं और अपने कर्तव्य का पालन करते रहते हैं।[8]

राज्य चाहने वाले राजाओं के लिये राज्य में प्रजा की भली-भांति रक्षा को

---

1. *किं तैर्येऽनड्डुहो नोह्याः किं धेन्वा वाप्यदुग्धया।*
   वन्ध्यया भार्यया कोऽथोंराज्ञाप्यरक्षतः।। शा० प० : अध्याय 78, श्लोक : 41।
2. *शा० प० : अध्याय 78, श्लोक : 48।*
3. *शा० प० : अध्याय 75, श्लोक : 10।*
4. *न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना।*
   नृशंसेनातिलुब्धेन शक्यं पालयितु प्रजाः।। शा० प० : अध्याय 75, श्लोक : 14।
5. *शा० प० : अध्याय 86, श्लोक : 24।*
6. *शा० प० : अध्याय 75, श्लोक : 8।*
7. *शा० प० : अध्याय 57, श्लोक : 15।*
   डॉ० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (द्वितीय भाग) : पृष्ठ : 602-603।
8. *अर्थशास्त्र : वार्ता 19, अध्याय 4, अधि० 1।*

छोड़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिसके राज्य की प्रजा तथा वहां आये हुये परदेशी मनुष्य भी जीविका के बिना कष्ट पा रहे हों, उस राजा के जीवन को धिक्कार है।[1] पत्नी वही अच्छी है जो प्रिय वचन बोले, पुत्र वही अच्छा है जिससे सुख मिले, मित्र वही श्रेष्ठ है जिस पर विश्वास बना रहे और देश भी वही उत्तम है जहां जीविका चल सके। उग्र शासन वाला राजा वही श्रेष्ठ है जिसके राज्य में बलात्कार न हो, किसी प्रकार का भय न रहे।[2] जो दरिद्र का पालन करना चाहता हो तथा प्रजा के साथ जिसका पाल्य-पालक सदा बना रहे। जो प्रजा की आय का छठा भाग कर रूप से ग्रहण करके उसका उपभोग करता है और प्रजा का भलीभांति पालन नहीं करता वह तो राजाओं में चोर है।[3] जिसके राज्य में रोती-बिलखती स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण हो जाता हो और उसके पति-पुत्र रोते पीटते रह जाते हों, वह राजा नहीं मुर्दा है अर्थात् वह जीवित रहते हुये मुर्दे के समान है। जो प्रजा की रक्षा नहीं करता केवल उसके धन को लूटता-खसोटता रहता है तथा जिसके पास कोई नेतृत्व करने वाला मंत्री नहीं है वह राजा नहीं। समस्त प्रजा को चाहिये कि ऐसी निर्दयी राजा को बांधकर मार डाले। जो राजा प्रजा से यह कहकर कि मैं तुम लोगों की रक्षा करूंगा उनकी रक्षा नहीं करता वह पागल और रोगी कुत्ते की तरह सबके द्वारा मार डालने योग्य है।[4] इस प्रकार प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा को दण्डित करने का अधिकार जनता को प्रदान कर एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण बताया, जो तत्कालीन राजतंत्र के दुर्गुणों को दूर करने हेतु पर्याप्त था।

आचार्य शुक्र ने भी राजा के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुये कहा है कि राजा का परम धर्म प्रजा-परिपालन और दुष्ट निग्रह है। राजा को प्रजा रंजन कार्यों में नित्य तत्पर

---

1. *धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रं यस्यवसीदति।*
   अवृत्त्यान्यमनुष्योऽपि वैदेशिक इत्यापि।। शा0 प0 : अध्याय 130, श्लोक : 34।
2. *सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निवृत्तिः।*
   तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते।। शा0 प0 : अध्याय 139, श्लोक : 96।
   यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः।
   भीरेव नास्ति सम्बन्धो दरिद्रं यो बुभूषते।। शा0 प0 : अध्याय 139, श्लोक : 97।
3. *महाभारत : सम्पा0 हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृ0 5663।*
4. *शा0 प0 : अध्याय 139, श्लोक : 100।*

रहना चाहिये। शुक्र ने दुष्ट निग्रह, प्रजा परिपालन, न्यायानुसार कोष अर्जन, शत्रु व भूमि संग्रह करना आदि कर्तव्यों को राजा का परम धर्म बतलाया है।[1] आचार्य सोमदेव सूरि ने राजा द्वारा प्रजा की सेवा जिस प्रकार से की जाती है, उन सिद्धान्तों को नीतिवाक्याम्रत में उसके कर्तव्य के अन्तर्गत माना है। तथा राजा के प्रमुख कर्तव्य-वर्णाश्रम व्यवस्था का सम्यक् संचालन, प्रजा परिपालन, न्याय व्यवस्था की स्थापना, असहाय तथा अनाथों का परिपोषण बतलाये हैं।[2]

कौटिल्य ने राजा के कर्तव्यों को राजवृत नाम से सम्बोधित किया है। उनका विचार है कि "प्रत्येक प्रकार की उन्नति, यश, प्रजा द्वारा किये जाने वाले कार्यों की उचित व्यवस्था करना अथाव उनके परस्पर मतभेदों एवं कलह सम्बन्धी विषयों में निर्णय देना, सम्पूर्ण प्रजा पर समदृष्टि रखना और उसके सम्यक् पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था करना अथवा शत्रु मित्र और उदासीन की देखरेख करके तदनुकूल उनसे व्यवहार करना तथा विविध दीक्षा प्राप्त किये हुये व्यक्तियों को राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करना आदि राजा के वृत्त माने गये हैं।[3]"

जब किसी राजा को शत्रु चारो ओर से घेर लें तब उसे अपने हितैषियों से विचार विमर्श करके समयानुसार शत्रु के साथ भी सन्धि कर आत्मरक्षा अवश्य करे।[4] विशाल चतुरंगिनी सेना एकत्र कर लेने के बाद भी राजा को पहले सामनीति द्वारा शत्रु से सन्धि करने का ही प्रयास करना चाहिये। यदि वह सफल न हो तो युद्ध के लिये प्रयत्न करना उचित है।[5] मनु और शुक्र ने भी इसी प्रकार के मत व्यक्त किये हैं।[6] यदि विजय कामी एवं आक्रमणकारी शत्रु राजा धर्मार्थ में प्रवीण हो और पवित्र मन वाला हो तो अक्रान्त राजा को अविलम्ब

---

1. *शुक्रनीति : अध्याय 1 : श्लोक 14, पृष्ठ : 20-25।*
2. *नीति वाक्यामृत : समू0-7, वार्ता-20-25।*
3. *अर्थशास्त्र : अध्याय 19, अधि0-1, श्लोक 38।*
4. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-शा0 प0 (द्वितीय खण्ड) : पृ 6।*
5. *सम्भृत्य महतीं सेनां चतुरंगां युधिष्ठिर।*
   साम्नैव वर्तये पूर्व प्रयतेथास्ततो युधि।। शा0 प0 : अध्याय 102, श्लोक : 16।
6. *मानव धर्मशास्त्र : अध्याय 7, श्लोक : 198*
   शुक्रनीति : अध्याय 4 : श्लोक 1131।

उसके साथ सुलह कर लेनी चाहिये और जो नगर और ग्राम परम्परागत अपने अधिकार में रहे हों उन्हें शत्रु के अधिकार से निकाल कर अपने अधिकार में कर लेना चाहिये। यदि आक्रमणकारी शत्रु सन्धि न करना चाहे तब आक्रान्त राजा अपनी राजधानी छोड़कर भाग जाये अथवा आक्रमणकारी राजा को दण्ड स्वरूप कुछ धन देकर संकट से पार हो जाये और निज प्राणों को बचा ले। शत्रु का आक्रमण होने पर रानियों को राजधानी से हटा दे। यदि सन्धि करने में सफलता न हो तो पराक्रम दिखा कर शत्रु को अपने राज्य की सीमा से बाहर कर देना चाहिये। यदि ऐसा करते समय आक्रान्त राजा को प्राण गंवाने पड़े तो प्राण गंवाना ही अच्छा है।1 यदि अपनी सेना के सैनिकों का अपने ऊपर अनुराग हो तो और शत्रु के साथ लड़ने का उत्तम उत्साह हो तो वह राजा अखिल भूमण्डल को भी विजय कर सकता है।[1]

बुद्धिमान पृथ्वीपालक नरेश जब किसी अत्यन्त बलवान राजा से पीड़ित होने लगे, तब उसे दुर्ग का आश्रय लनो चाहिये। उस समय अपने कर्तव्य पर विचार करने के लिये मित्रों का आश्रय लेकर उनकी सलाह से पहले तो वह अपनी रक्षा के लिये उचित व्यवस्था करे, फिर साम, भेद अथवा युद्ध में से क्या करना है इस पर विचार करके उसके उपयुक्त कार्य करे। यदि युद्ध का निश्चय हो तो पशुशालाओं को वन में से उठा कर सड़कों पर ले आवे, छोटे-छोटे गांवों को उठा दे और उन सबको शाखा नगरों (कस्बों) में मिला दे। राज्य में जो धनी और सेना के प्रधान-प्रधान अधिकारी हों अथवा जो मुख्य-मुख्य सेनायें हो उन सबको बारम्बार सांत्वना देकर ऐसे स्थानों में रख दे जो अत्यन्त गुप्त और दुर्गम हों । राजा स्वयं ही ध्यान देकर खेतों में तैयार हुयी अनाज की फसल कटवा कर किले के भीतर रखवा ले। यदि किले में लाना सम्भव न हो सके तो उन फसलों को आग लगाकर जला दे। शत्रु के खेतों में जो अनाज हो उन्हें नष्ट करने के लिये वहीं के लोगों से फूट डाले अथवा अपनी ही सेना के द्वारा वह सब नष्ट करा दे, जिससे शत्रु के पास खाद्य-सामग्री का अभाव हो जाये। नदी के मार्गों पर जो पुल पड़ते हों उन सबको तुड़वा दे। शत्रु के मार्ग में जो जलाशय हो उनका सारा जल इधर-उधर बहा दे। जो जल बहाया न जा सके उसे दूषित कर दे, जिससे वह पीने योग्य

1. चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत-शा० प० (द्वितीय खण्ड) : पृ 1-3।

न रह जाये, वर्तमान अथवा भविष्य में सदा किसी मित्र का कार्य उपस्थित हो तो उसे भी छोड़ कर अपने शत्रु के उस शत्रु का आश्रय लेकर रहे जो राज्य की भूमि के निकट का निवासी हो तथा युद्ध में शत्रु पर आघात करने के लिये तैयार रहता हो। जो छोटे-छोटे दुर्गों (जिसमें शत्रुओं के छिपने की संभावना हो) उन सबका राजा मूलोच्छेद करा डाले और चैत्य (देवालय सम्बन्धी) वृक्षों को छोड़कर अन्य सभी छोटे-छोटे वृक्षों को कटवा दे। जो वृक्ष बढ़कर बहुत फैल गये हों, उनकी डालियां कटवा दें।[1] नगर एवं दुर्ग के परकोटों पर शूरवीर रक्षा सैनिकों के बैठने के लिये स्थान बनावें, ऐसे स्थानों को पगदण्डी कहते है, इन्हीं पगदण्डियों की एक पाख वाली दीवारों में बाहर की वस्तुओं को देखने के लिये छोटे-छोटे छिद्र बनवावें, इन छिद्रों को आकाश जननी कहते हैं। (इन्हीं द्वारा तोपों से गोलियां छोड़ी जाती हैं) इन सबका अच्छी तरह से निर्माण करावें। परकोटों के बाहर बनी हुयी खाई में जल भरवा दें और उसमें त्रिशूलयुक्त खम्भे गड़वा दें तथा मगरमच्छ और बड़े-बड़े मत्स्य भी डलवायें। नगर में हवा आने-जाने के लिये परकोटों में संकरे दरवाजे बनावें और बड़े दरवाजों की भांति उनकी भी सब प्रकार से रक्षा करें।[2] सब दरवाजों पर भारी-भारी यंत्र और तोप, सदा लगाये रखें और उन सबको अपने अधिकार में रखें। किले के भीतर बहुत सा ईंधन इकट्ठा कर लें और कुयें खुदवायें। जल पीने की इच्छा वाले लोगों ने जो कुयें बना रखे हो उनको भी भरवाकर शुद्ध करा दें। घास-फूस से छाये हुये घरों को गीली मिट्टी से लिपवा दें और चैत का महीना आते ही आग लगने के भय से नगर के भीतर से घास-फूस हटवा दें। खेतों में भी तृण आदि को हटा दें। राजा को चाहिये कि वह युद्ध के अवसरों पर नगर के लोगों को रात में ही भोजन बनाने की आज्ञा दें। दिन में अग्निहोत्र को छोड़कर और किसी काम के लिये आग न जलावें। लौहार आदि की भट्ठियों और सूतिकाग्रहों में भी अत्यन्त सुरक्षित रूप से आग जलानी

1. *यदा तु पीडितो राजा भवेद् राज्ञा बलीयसा।*
   तदाभिसंश्रयेद् दुर्गं बुद्धिमान् पृथिवीपतिः।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 33।
   विधावाक्रम्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत्।
   सामभेदान् विरोधार्थे विधानमुपकल्पयेत्।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 34 एवं 35 से 42।
2. *प्रगण्डीः कारयेत् सम्यगाकाशजननीस्तदा।*
   आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 43 एवं 44।

चाहिये। आग घर के भीतर ले जाकर ढक कर रखना चाहिये। नगर की रक्षा के लिये यह घोषणा करा दे कि जिसके यहां दिन में आग जलायी जाती होगी उसे भारी दण्ड दिया जायेगा। जब युद्ध छिड़ा हो तब राजा को चाहिये कि वह नगर से भिखमंगों, गाड़ीवानों, हीजड़ों, पागलों और नाटक करने वालों को बाहर निकाल दे अन्यथा वे भारी विपत्ति ला सकते हैं।[1] शत्रुओं की सेना से पीड़ित हुआ राजा, धन संचय तथा आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके रखे।[2] पुर की रक्षा, भृत्यों के विश्वास पर ही निर्भर न रहना, पुरवासियों के अनुचित संघों का भेदन, शत्रु मित्र और उदासीनों पर दृष्टि रखना राजा का कर्तव्य है।[3] शत्रु पर आक्रमण करने के लिये सदा तैयार रहें।[4] राजा को आपातकाल में राज्य भार अपने कन्धों पर अच्छी तरह उठाना चाहिये।[5] यदि बैरियों ने नागरिकों को बहका दिया हो तो उनमें भेद डाल दे। बैरियों, तटस्थों और मित्रों को यथोचित वरीयता दे दे। वीरतायुक्त सत्य भाषण चातुर्य प्रथाहित को दृष्टि से सरलता या कुटिलता से बैरियों में फूट डाले।[6] राजा को उचित है कि वह अपने गुप्तचरों को सैन्य एवं प्रजा संग्रह को विजय प्राप्ति के लिये निश्चित किये हुये कपटों तथा पापों को सावधानी से छिपाकर रखे और दिखलावे निष्कपटपन।[7] राजा को उचित है कि तिरस्कार तो वह बैरियों का भी न करे, राजनीति के अनुसार बर्ताव करे। संकटकाल उपस्थित होने पर राजा सुन्दर मन्त्रणा, उत्तम पराक्रम एवं उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आ जाये तो सुन्दर ढंग से पलायन भी करे।[8] ऐश्वर्य चाहने वाले राजा को चाहिये कि वह अवसर देखकर शत्रु के

---

1. *काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत्।*
   संशोधयेत् तथा कूपान कृतपूर्वान् पर्योऽथिभिः।।
   शा0 प0 : अध्याय 69, श्लोक : 46 एवं 47 से 51।
2. *अथसंनिचयं कुर्याद् राजा परबलार्दितः।*
   तैलं वसा मधु ध्रतमौषधानि च सर्वशः।। शा0 प0 : अध्याय 69, श्लोक : 56।
3. *शा0 प0 : अध्याय 58, श्लोक : 10।*
4. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत (प्रथम खण्ड) : पृ0 119।*
   शा0 प0 : अध्याय 131, श्लोक : 10-11।
5. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत (प्रथम खण्ड) : पृ0 5।*
6. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत (प्रथम खण्ड) : पृ0 199।*
7. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत (प्रथम खण्ड) : पृ0 200।*
8. *शा0 प0 : अध्याय 140, श्लोक : 12।*

सामने हाथ जोड़े, शपथ खाये, आश्वासन दे और चरणों में सिर झुकाकर बातचीत करे।[1] बल और पराक्रम से हीन राजा भी जो अपने से अत्यन्त शक्तिशाली नरेश हो उसके अधीन न रहे। उसे चाहिये कि गुप्त रूप से प्रबल शत्रु को क्षीण करने का प्रयत्न करता रहे, वह शस्त्रों के प्रहार से घायल कर के, आग लगाकर तथा विष के प्रयोग द्वारा मूर्छित करके शत्रु के राष्ट्र में रहने वाले लोगों को पीड़ा देकर मन्त्रियों तथा राजा के प्रिय व्यक्तियों में कलह प्रारम्भ करा दे।[2] शत्रु का आक्रमण हो जाने पर राजा को सबसे पहले अपने अन्तःपुर की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिये। यदि वहां शत्रु का अधिकार हो जाये, तब उधर से अपनी मोह-ममता हटा लेनी चाहिये क्योंकि शत्रु के अधिकार में गये हुये धन और परिवार पर दया दिखाना किस काम का। जहां तक सम्भव हो अपने आप को किसी तरह भी शत्रु के हाथ में नहीं फंसने देना चाहिये। यदि बाहर राष्ट्र और दुर्ग आदि पर आक्रमण करके शत्रु उसे पीड़ा दे रहे हों और भीतर मंत्री आदि भी कुपित हों, खजाना खाली हो गया हो और राजा का गुप्त रहस्य सबके कानों में पड़ गया हो तो शीघ्र ही सन्धि का विचार कर ले अथवा जल्दी से जल्दी दुःसह्य पराक्रम प्रकट करके शत्रु को राज्य से निकाल बाहर करे। दुर्बल राजा शत्रु में कोमलता लाने के लिये विपक्ष के सभी लोगों को संतुष्ट करके उनके मन में विश्वास जमाकर उनसे युद्ध बन्द करने के लिये अनुनय-विनय करे अथवा वह मधुर वचनों द्वारा विरोधी दल के मंत्री आदि का प्रसन्न करके दुर्ग से पलायन करने का प्रयत्न करे तदन्तर कुछ काल व्यक्ति करके श्रेष्ठ पुरुषों की सम्मति से अपनी खोई हुयी सम्पत्ति अथवा राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न आरंभ करे।[3]

यदि शत्रु पर चढ़ाई करने की इच्छा हो तो पहले उसके बलाबल के बारे में अच्छी तरह पता लगा लेना चाहिये। यदि वह मित्रहीन, सहायकों और बन्धुओं से रहित, दूसरों

---

1. *अंजलि शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत्।*
   अश्रु प्रभार्जनम् चैव कर्तव्यं भूमिमिच्छता।। शा० प० : अध्याय 140, श्लोक : 17 एवं 18।
2. *न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान्।*
   हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत्।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 21 एवं 22।
3. *अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया।*
   न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथंचन।।
   शा० प० : अध्याय 131, श्लोक : 8 एवं 9, 10, 13, 14।

के साथ युद्ध में लगा हुआ, प्रमाद में पड़ा हुआ तथा दुर्बल जान पड़े, और इधर जब अपनी सैनिक शक्ति प्रबल हो तो युद्ध निपुण, सुख के साधनों से सम्पन्न एवं वीर राजा को उचित है कि अपनी सेना को यात्रा के लिये आज्ञा दे दे। पहले अपनी राजधानी की रक्षा का प्रबन्ध करके शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये।[1] यदि राजा की जड़ मजबूत न हो तो राजा को अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति, अनाधिकृत देशों पर अधिकार की इच्छा नहीं करनी चाहिये। जिसके सैनिक संतुष्ट, राजा के द्वारा सांत्वना प्राप्त और शत्रुओं को धोखा देने में चतुर हो, वह भूपाल थोड़ी सी सेना के द्वारा भी पृथ्वी पर विजय पा लेता है।[2] यदि शस्त्र तैयार हो और योद्धा भी शत्रुओं से भिड़ने का दृढ़ निश्चय कर चुके हों तो चैत्र व मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा को सेना का युद्ध के लिये उद्यत होकर प्रस्थान करना उत्तम माना गया है। उस समय खेती पक जाती है और भूतल पर जल की प्रचुरता रहती है। उस समय मौसम में भी न तो अधिक ठण्ड रहती है और न अधिक गर्मी। जो लोग शत्रु के शत्रु हों, उन सबका सेवन करना करना चाहिये। शत्रु के हित के प्रति मनोयोग न कर, मौन व्रत लेकर गेरुआ वस्त्र पहन कर तथा जटा और मृग चर्म धारण करके अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और जब विश्वास हो जाये तो मौका देखकर भूखे भेड़िये की तरह शत्रु पर टूट पड़े।[3] कोई जन्म से मित्र अथवा शत्रु नहीं होता। सामर्थ्य योग से ही शत्रु और मित्र उत्पन्न होते रहते हैं। मनुष्यों का वध करके, सड़कें तोड़-फोड़ कर और घरों को नष्ट-भ्रष्ट करके शत्रु के राष्ट्र का विध्वंस करना चाहिय।[4] प्राचीन भारतीय साहित्य में युद्ध का अत्यधिक मात्रा में उल्लेख है। सम्भवतः इसका प्रमुख कारण मत्स्य न्याय की स्थिति को समाप्त कर सुरक्षित सुखी, नागरिक जीवन की स्थापना रहा है।

---

1. *यात्रायां यदि विज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम्।*
   व्यासक्तं च प्रमत्तं च दुर्बलं च विचक्षणः।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 19।
   यात्रामाज्ञापयेद् वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखीः।
   पूर्व कृत्वा विधानं च यात्रायां नगरे तथा।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 19।
2. *शा० प० : अध्याय 94, श्लोक : 4।*
3. *शा० प० : अध्याय 140, श्लोक : 46।*
4. *शा० प० : अध्याय 140, श्लोक : 61।*

प्रशासनिक व्यवस्था के विषयक विचार :-

राज्य के प्रशासन हेतु एक क्रमिक वैज्ञानिक पद्धति की व्यवस्था व्यक्त की गयी है। प्रशासन के विभिन्न सोपानों यथा- राजा, प्रधानमंत्री, मंत्रिमंडल एवं नगर और ग्राम की संस्थाओं को अनिवार्य बताया गया है। आधुनिक काल में प्रचलित प्रत्येक शासन प्रणाली चाहे वह राजतंत्र हो या गणतंत्र, प्रजातंत्र हो या एकाकी राज्य में परिषद अर्थात् मंत्रिमंडल का होना नितान्त आवश्यक माना गया है। जितना शसक्त और प्रभावशाली मंत्रिमंडल होगा, उतना ही वह राज्य स्थिर, सम्पन्न और समृद्ध होगा। किसी देश की सुव्यवस्था और अस्थिरता सुयोग्य मंत्रियों पर ही निर्भर है। इसीलिये प्राचीन काल से ही भारतीय शासन, संचालन प्रणाली में मंत्रिपरिषद का होना अनिवार्य माना गया है और विभिन्न विशेषताओं को प्रकट किया गया है। जो जितेन्द्रिय किसी विषय पर अच्छी तरह विवेचन करने में समर्थ हो।[1] जो कुलीन हो, जिसका सदा सम्मान किया जाय तथा राजा प्रसन्न हो या अप्रसन्न हो, पीड़ित हो अथवा हताहत हो, प्रत्येक अवस्था में जो बारम्बार उसका अनुशरण करता हो,[2] शीलवान, इशारे समझने वाले, निष्ठुरतारहित, देश काल के विधान का समझने वाले और स्वामी के अभीष्ट कार्य की सिद्धि तथा हित चाहने वाले मनुष्य को राजन सदा सभी कार्यों के लिये अपना मंत्री बनावें।[3]

राजा परीक्षा लिये बिना अपना मंत्री न बनावें क्योंकि नीच कुल के मनुष्य का साथ पाकर राजा को न तो सुख मिलता है और न उसकी उन्नति ही होती है। राजा उसी को मंत्री बनावे जो कुलीन और सुशिक्षित, विद्वान, ज्ञान-विज्ञान में पारंगत, सब शास्त्रों में तत्त्व

---

1. *ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः।*
   शक्ताः कथियुतं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः।। शा० प० : अध्याय 83, श्लोक : 2।
2. *कुलीनः पूजतो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति।शा० प० : अध्याय 83, श्लोक : 4।*
   प्रसन्नमप्रसन्नं वा पीड़ितं हतमेव वा।
   आवर्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम्।। शा० प० : अध्याय 83, श्लोक : 5।
3. *शा० प० : अध्याय 83, श्लोक : 8।*

जानने वाला, सहनशील, अपने देश का निवासी, कृतज्ञ, बलवान, क्षमाशील, मन का दमन करने वाला जितेन्द्रिया, निर्लोभ,जो मिल जाये उसी से संतोष करने वाला, स्वामी और उसके मित्र की उन्नति चाहने वाला, देश काल का ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओं के संग्रह में तत्पर, सदा मन को वश में रखने वाला, स्वामी का हितैषी, आलस्यरहित, अपने राज्य में गुप्तचर लगाये रखने वाला, सन्धि और विग्रह के अवसर को समझने में कुशल, राजा के धर्म और अर्थ और काम की उन्नति का उपाय जानने वाला नगर और ग्रामवासी लोगों का प्रिय, खांयी और सुरंग खुदवाने तथा व्यूह बढ़ाने में प्रवीण, शक्ल-सूरत और चेष्टा देखकर ही मन के यथार्थ भाव को समझ लेने वाला, शत्रुओं पर चढ़ाई करने के अवसर को समझने में विशेष चतुर, हाथी की शिक्षा के यथार्थ तत्व को जानने वाला, अहंकार रहित, निर्भीक, उदार, संयमी, बलवान, उचित कार्य करने वाला, शुद्ध, प्रसन्नमुद्रा, प्रिय दर्शन नेता, नीतिकुशल, श्रेष्ठ गुण और उत्तम चेष्टाओं से सम्पन्न, उदण्डतारहित, विनयशील, स्नेही, मृदुभाषी, धीर, शूरवीर, महान ऐश्वर्य से सम्पन्न तथा देश और काल के अनुसार कार्य करने वाला हो।[1] जो कीर्ति को प्रधानता देता है और मर्यादा के भीतर स्थित रहता है, जो सामर्थशाली पुरुषों से द्वेष और अनर्थ नहीं करता है, जो कामना से, भय से, लोभ से अथवा क्रोध से भी धर्म का त्याग नहीं करता, जिसमें कार्य कुशलता तथा आवश्यकता के अनुरूप बातचीत करने की पूरी योग्यता हो वही पुरुष प्रधानमंत्री होना चाहिये। जो कुलीन, शील, सम्पन्न, सहनशील, झूंठी आत्म प्रशंसा न करने वाले, शूरवीर श्रेष्ठ विद्वान तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझने में कुशल हो, उन्हें मंत्री पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिये।[2] जिनके साथ कोई न कोई सम्बन्ध हो, जो अच्छे कुल में उत्पन्न, विश्वासपात्र, स्वदेशीय, घूस न खाने वाले तथा व्यभिचार दोष से रहित हों, जिनकी सब प्रकार से भलीभांति परीक्षा ले ली गयी हो, जो उत्तम जाति वाले, वेद के मार्ग पर चलने वाले, कई

---

1. *खातकव्यूहतत्वज्ञं बलहर्षणकोविदम्।*
   इंगितकारतत्वज्ञं यात्राज्ञानविशारदम्।। शा० प० : अध्याय 118, श्लोक : 11 एवं 12 से 14।
   सचिवं य प्रकुरुते न चैनमवमन्यते।
   तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव।। शा० प० : अध्याय 118, श्लोक : 15।
2. *शा० प० : अध्याय 80, श्लोक : 28-29।*

पीढ़ियों से राजकीय सेवा करने वाले अहंकार शून्य हों, ऐसे ही लोगों को अपनी उन्नति चाहने वाला ऐश्वर्यमयी पुरुष मंत्री बनावें।[1] जिसमें विनययुक्त बुद्धि, सुन्दर स्वाभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, घृणा और स्थिरता हो, उनके इन गुणों की परीक्षा करके यदि वे राजकीय कार्यभार को संभालने में प्रौढ़ तथा निष्कपट सिद्ध हों तो राजा उनमें से पांच व्यक्तियों को चुनकर अर्थ मंत्री बनावें।[2] जो मंत्री स्वामी का प्रिय करने की इच्छा से उसके उन सभी बर्तावों को सह लेता है वही अनुरक्त है। जिस मंत्री का राजा के प्रति अनुराग न हो, उसका विश्वास करना ठीक नहीं है, अतः अनुराग रहित मंत्री के सामने अपने गुप्त विचार को प्रकट न करे।[3]

महाभारत में ऐसे अनेक मंत्रियों का उल्लेख है जो पूर्णतः सच्चे देश हितैषी, देशभक्त और स्वामी भक्त थे। महात्मा विदुर, भोक्य, युयुत्सु, संजय आदि ऐसे ही श्रेष्ठ मंत्री थे। प्राचीन भारत में ऐसे भी मंत्री थे जिन्होंने राजा या राज्य पर संकट के समय अपने प्राण तक को न्योछावर करने में लेष मात्र भी संकोच नहीं किया। राजा जयपीढ़ के बन्दी हो जाने पर उसके मंत्री ने नदी में कूद कर अपने प्राण दे दिये ताकि उसके फूल हुये शव के सहारे राजा नदी पार कर शत्रुओं के पंजे से मुक्ति पा सकें।[4] उसके विपरीत कुछ दुष्ट मंत्रियों का भी उल्लेख मिलता है, इनमें शकुनि ऐसा ही एक मंत्री था, जिसकी दुर्भावना एवं दुर्नीति के कारण महाभारत जैसा भयंकर युद्ध हुआ। आदिपर्व में उल्लिखित मगध राजा अम्बुबीच का मंत्री महाकभि भी ऐसा ही दुष्ट मंत्री था, जो राजा की अवहेलना करके स्वयं राजा बनना चाहता था।[5]

---

1. *सम्बन्धिपुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः।*
   अहार्यैव्यभीचारैः सर्वशः सुपरीक्षितैः।। शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 19।
   यौनः श्रौतास्तथा मौलास्तथैवाप्यहंनकृताः।
   कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषतः।। शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 20।
2. *शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 21-22।*
3. *मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते।*
   तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत्।। शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 30।
4. *प्रो0 अनन्त सदाशिव अल्तेकर : प्राचीन भारतीय पद्धति, पृष्ठ 136।*
5. *आदि प0 : अध्याय 203, श्लोक : 17-21।*

राजा के मंत्रियों की संख्या कम से कम तीन होनी चाहिये। राजा को चाहिये कि वेद-विद्या के विद्वान निर्भीक बाहर-भीतर से शुद्ध एवं स्नातक हों, ऐसे चार ब्राम्हण शरीर से बलवान तथा शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय, धन-धान्य से सम्पन्न इक्कीस वैश्य, पवित्र आचार-विचार करने वाले तीन विनयशील शूद्र तथा आठ गुणों से युक्त एवं पुराणविद्या को जानने वाला एक सूत जाति का मनुष्य-इन सब लोगों का एक मंत्रिमंडल बनावें। उस सूत की अवस्था लगभग पचास वर्ष की हो और वह निर्भीक, दोषदृष्टि से रहित, श्रुतियों और स्मृतियों के ज्ञान से सम्पन्न, विनयशील, समदर्शी, वादी-प्रतिवादी के मामलों का निपटारा करने में समर्थ, लोभ रहित और अत्यन्त भयंकर सात प्रकार के दुर्व्यसनों से बहुत दूर रहने वाला हो।[1] उनके द्वारा व्यक्त मंत्रिपरिषद की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने चारों वर्णों के सुयोग्य व्यक्तियों, यहां तक कि शूद्र एवं सूत को भी मंत्रिपरिषद में स्थान दिया है, जिससे राज्य की जनता के प्रत्येक वर्ग एवं हितों की रक्षा हो सके। मंत्रिपरिषद के निर्माण की द्वितीय विशेषता यह है कि मंत्रि परिषद में चारों वर्णों के प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त प्रतिपादन करते हुये इन वर्णों के प्रतिनिधियों की जो योग्यतायें निर्धारित की गयी हैं, वे सम्बन्धित वर्णों की विशेषता की प्रतीक हैं। इस प्रकार की व्यवस्था का विधान करने के अन्तःस्थल में यह विचार है कि राजा को राज्य संचालन हेतु शासन सम्बन्धी विभिन्न विषयों में अनुभवी और विशेष व्यक्तियों की मंत्रणा सुलभ होती रहे। जाति, वर्ण, धर्म जैसी संकीर्ण भावना किसी वर्ग विशेष को मंत्रिपरिषद की सदस्यता प्राप्त करने के अधिकारों से वंचित नहीं करती थी।[2] संभवतः प्राचीन भारत में मंत्रि परिषद में अधिकांश जातियों और हितों को स्थान मिलता था।[3]

राज्य की सुव्यवस्था कर्मचारियों पर ही निर्भर रहती है। चरित्रवान और कर्तव्यनिष्ठ कर्मचारियों से युक्त राजा का राज्य दिन-प्रतिदिन उन्नति को अग्रसर होता है।

---

1. *चतुरो ब्राम्हाणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकन्शुचीन्।*
   क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्र पाणिनः।। शा0 प0 : अध्याय 85, श्लोक : 7 एवं 8 से 10।
   वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम्।
   अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्।। शा0 प0 : अध्याय 85, श्लोक : 11।
2. *डा0 स्नेहलता शर्मा : महाभारत में राज्य सिद्धान्त, पृष्ठ 222।*
3. *डॉ0 अल्तेकर : स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन सियेंट 2 इण्डिया, पृ0 121।*

वहीं इनका चारित्रिक पतन और भ्रष्टाचार राज्य की अवनति का कारण बनता है। इसी तथ्य का ध्यान में रखते हुये सेवकों एवं सहायकों के अपेक्षित गुणों पर अत्यधिक बल दिया है।

जो लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और किसी विषय पर अच्छी तरह प्रवचन करने में समर्थ हो, ऐसे ही लोग राजा के सभासद होने चाहिये।[1] मंत्रियों को अत्यन्त शूरवीर पुरुषों को, विद्वान ब्राम्हणों को पूर्णतया संतुष्ट रहने वाले को और सभी कार्यों के लिये उत्साह रखने वालों को राजा सभी आपत्तियों के समस्त अपना सहायक नियुक्त करे।[2] जो उत्तम कुल और अपने ही देश में उत्पन्न हुये हों, बुद्धिमान, रूपवान, बहुश, निर्भय और अनुरक्त हों, वे ही परीच्छद (सेनापति) आदि होने चाहिये।[3]

एक और व्यक्ति हो और दूसरी ओर एक समूह हो तो समूह को छोड़कर एक व्यक्ति को ग्रहण करने की इच्छा न करे परन्तु जो एक मनुष्य बहुत मनुष्यों की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ हो और इन दोनों में से एक को ही ग्रहण करना पड़े तो ऐसी परिस्थिति में कल्याण चाहने वाले पुरुष को उस एक के लिये समूह को त्याग देना चाहिये।[4]

जिसकी बुद्धि तीव्र और धारण शक्ति प्रबल हो, जो अपने ही देश में उत्पन्न, शुद्ध आचरण वाला और विद्वान हो तथा सब तरह के कार्यों में परीक्षा करने पर निर्दोष सिद्ध हुआ हो, वह गुप्त सलाह सुनने का अधिकारी है। जो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, अपने और शत्रुओं के पक्ष के लोगो की प्रकृति को परखने वाले तथा राजा को अपने आत्मा के समान अभिन्न सुहृद हो, वह गुप्त मंत्रणा सुनने का अधिकारी है। जो सत्यवादी, शीलवान, गंभीर, लज्जाशील, कोमल स्वाभाव वाला तथा बाप-दादों के समय से ही राजा की सेवा करता आया है, वह भी गुप्त मंत्रणा सुनने का अधिकारी है।[5]

---

1. *ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः।*
   शक्ताः कथयितुं सम्यक् मते तव स्युः सभासदः।। शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 2।
2. *शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 3-4।*
3. *शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 6।*
4. *नैकमिच्छेद् गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः।*
   यस्त्वेको बहुभिःश्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत्।। शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 12।
5. *शा0 प0 : अध्याय 83, श्लोक : 41 से 43।*

जो संतोषी, सत्यपुरुषों द्वारा सम्मानित, सत्यपरायण, शूरवीर, पाप से घृणा करने वाला, राजकीय मंत्रणा को समझने वाला, समय की पहचान रखने वाला तथा शौर्य सम्पन्न है, वह भी गुप्त मंत्रणा को सुनने की योग्यता रखता है।[1] नगर और जनपद के लोग जिस पर धर्मतः विश्वास करते हों, तथा जो कुशल योद्धा और नीतिशास्त्र का विद्वान हो, वह गुप्त सलाह सुनने का अधिकारी है।[2] जिसका पराक्रम देखा जाता हो, जिसके जीवन में कीर्ति की प्रधानता हो, जो अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहता हो, सामर्थ्यशाली पुरुषों का सम्मान करता हो, जो स्पर्धा के अयोग्य पुरुषों से ईर्ष्या न रखता हो, कामना, भय, क्रोध अथवा लोभ से भी धर्म का उल्लंघन न करता हो, जिसमें अभिमान का अभाव हो, जो सत्यवान, क्षमाशील, जीवात्मा तथा सम्मानित हो और जिसकी सभी अवस्थाओं में परीक्षा कर ली गयी हो, ऐसा पुरुष ही गुप्त मंत्रणा में सहायक होना चाहिये।[3] जो व्यक्ति सुहृद न हो, जो सुहृद तो हो किन्तु पंडित न हो तथा जो सुहृद और पंडित तो हो किन्तु अपने मन को वश में न कर सका हो–ये तीनों ही परम गोपनीय मंत्रणा को सुनने या जानने के अधिकारी नहीं हैं।[4] जिसका शत्रुओं के साथ सम्बन्ध हो तथा अपने राज्य के नागरिकों के प्रति जिसकी अधिक आदर बुद्धि हो, ऐसे मनुष्य को सुहृद नहीं मानना चाहिये। वह भी गुप्त सलाह सुनने का अधिकारी नहीं है। जिसके पिता को अधर्माचरण के कारण पहले अपमान पूर्वक निकाल दिया गया हो और उसका वह पुत्र सम्मानपूर्वक पिता के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया हो, तो वह भी गुप्त सलाह सुनने का अधिकारी नहीं है। जो थोड़े से भी अनुचित कार्य के कारण दण्डित करके निर्धन कर दिया गया

---

1. *सन्तुष्टः सम्मतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः।*
   मंत्रवित् कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति।। शा० प० : अध्याय 83, श्लोक : 44।
2. *शा० प० : अध्याय 83, श्लोक 46।*
3. *श्रेयषो लक्षणं चैतद् विक्रमो यस्य दृश्यते।*
   कीर्तिप्रधानों यश्च स्यात् समये यश्च तिष्ठति।। शा० प० : अध्याय 83, श्लोक 13 एवं 14 से15।
4. *नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम्।*
   अपण्डितो पापि सुहृद् पण्डितो वाप्यनात्मवान्।। शा० प० : अध्याय 81, श्लोक 3।

हो, वह सुहृद एवं अन्याय गुणों से सम्पन्न होने पर भी गुप्त मंत्रणा सुनने के योग्य नहीं है।[1] जो राजा चिरकाल तक दण्ड धारण करने की इच्छा रखता हो उसे गुप्त सलाह उसी व्यक्ति को बतानी चाहिये जो शक्तिशाली हो और सारे जगत् को समझा बुझाकर अपने वश में कर सकता हो।[2]

जो मद और क्रोध को जीतकर मान और ईर्ष्या से रहित हो गये हों तथा जो कामिक, वाचिक, मानसिक, कर्मकृत और संकेतजनित - इन पांच प्रकार के छलों को लांघकर ऊपर उठे हुये हैं, ऐसे मंत्रियों के साथ ही राजा को (सलाह) गुप्त मंत्रणा करनी चाहिये।[3] राजा पहले सदा तीनों मंत्रियों की पृथक-पृथक सलाह जानकर उस पर मनोयोग पूर्वक विचार करे तत्पश्चात बाद में होने वाली मंत्रणा के समय अपने तथा दूसरों के निर्णय को राजगुरु की सेवा में निवेदन करे।[4] राजा सावधान होकर धर्म, अर्थ और काम के ज्ञाता ब्राम्हण गुरु के समीप जाकर उनका उत्तर जानने के लिये उनकी राय पूंछे। जब वे कोई निर्णय दे दें और वह सब लोगों को एक मत से स्वीकार हो जाये तब राजा दूसरे किसी विचार में न पड़कर उसी मंत्र मार्ग (विचार पद्धति) को कार्य रूप में परिणत करे। जहां गुप्त विचार किया जाता हो, वहां या उसके अगल-बगल, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, किसी तरह बौने, कुबड़े, दुबले, लंगड़े, अन्धे, गूंगे, स्त्री और हिजड़े-ये न आने पावें।[5] हर परिस्थिति का सामना परामर्श समिति के निर्णय पर होना चाहिये ऐसा कृष्ण का विचार था। जरासन्ध के भय से मथुरा से पलायन का निर्णय भी एक ऐसी ही समिति ने लिया। ''उस समय भोजवंश के अठारह कुलों (मंत्री पुरोहित) ने मिल कर इस प्रकार विचार-विमर्श किया, यदि हम लोग शत्रुओं का अन्त करने वाले बड़े-बड़े

1. *विर्धमतो विप्रकतः पिता यस्याभवत् पुरा।*
   सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मन्त्रं श्रोतुर्महति।। शा० प० : अध्याय 83, श्लोक 39 एवं 40।
2. *शा० प० : अध्याय 83, श्लोक 45।*
3. *संविनीय मदक्रोधौ मानमीर्ष्यां च निर्वृताः।*
   नित्यं पन्चोपधातीतैर्मन्त्रयेत् यह मन्त्रिभिः।। शा० प० : अध्याय 83, श्लोक 52।
4. *शा० प० : अध्याय 83, श्लोक 53।*
5. *न वामनाः कुब्जंकृषा न खन्जा, नान्धो जडः स्त्री च नपुंसंक च ।*
   न चात्र तिर्यक् च पुरो न पश्चान्नोर्ध्वे न चाधः प्रचरेत् कंथचित्।।
   शा० प० : अध्याय 83, श्लोक 56।

अस्त्रों द्वारा निरन्तर आघात करते रहे तो भी तीन सौ वर्षों में भी उसकी सेना का नाश नहीं कर सकते-फिर तो हम लोग मथुरा से भाग खड़े हुये। उस समय हमने यही निश्चय किया कि यहां की विशाल सम्पत्ति को पृथक-पृथक बांटकर थोड़ी-थोड़ी करके पुत्र एवं भाई-बन्धुओं के साथ शत्रु के भय से भाग चलें। ऐसा विचार करके हम सबने पश्चिम दिशा की शरण ली।''[1]

राजा अपने प्रति दृढ़ भक्ति से सम्पन्न युद्ध की शिक्षा पाये हुये बुद्धिमान् धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शूरवीर और श्रेष्ठ कर्म करने वाले वीर पुरुष को सेनापति बनावें। जो अपनी सहायता के लिये दूसरों का आश्रय लेने वाला न हो,[2] सन्धि विग्रह के अवसर को जानने वाला, धर्मशास्त्र का तत्वश बुद्धिमान, धीर, लज्जावान, रहस्य को गुप्त रखने वाला कलीन, साहसी तथा शुद्ध हृदय वाला सेनापति ही उत्तम माना जाता है। वह व्यूह रचना (मोर्चाबन्दी), यन्त्रों के प्रयोग तथा नाना प्रकार अन्याय अस्त्र-शस्त्रों को चलाने की कला का तत्वक विशेष जानकार हो, पराक्रमी हो, सर्दी-गर्मी, आंधी और वर्षा के कष्ट को धैर्यपूर्वक सहने वाला तथा शत्रुओं के छिद्र को समझने वाला हो।[3]

आचार्य कौटिल्य ने भी सेनापति के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उनके अनुसार सेनापति में सभी प्रकार के युद्ध करने, हथियार चलाने, हाथी, घोड़े, रथ आदि चलाने की पूरी-पूरी योग्यता होनी चाहिये। अन्वीक्षिकी आदि शास्त्रों में पारंगत होना चाहिये। और चतुरंगिनी सेना के कार्य और स्थान की उसे पूरी-पूरी जानकारी होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त सेनापति में अपनी भूमि, युद्धकाल, शत्रु सेना, शत्रु समूह को तोड़ना, शत्रु सेना का मर्दन करना, दुर्ग तोड़ना और उचित समय पर युद्ध के लिये प्रस्थान करना--इस सभी बातों को समझने, विचारने की क्षमता होनी चाहिये।[4] स्मृतिकार मनु ने इन सभी गुणों से अपनी

---

1. *अनारभन्तो निर्धनतो महारत्रै शत्रुधातिथिः।*
   न ध्न्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्ष शतवैंलयम्।। शा0 प0 : अध्याय 14, श्लोक 36।
   शा0 प0 : अध्याय 14, श्लोक 47 से 49।
2. *शा0 प0 : अध्याय 68, श्लोक 57।*
3. *कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।*
   यथोक्तवादी समृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणैः।। शा0 प0 : अध्याय 85, श्लोक 28।
4. *अर्थशात्र : अध्याय 2, श्लोक 33, पृ0 293-294।*

सहमति प्रकट करते हुये सेनापति के गुणों में कुछ और वृद्धि कर दी है। उनके अनुसार सेनापति कदापि भीरू और अविश्वसनीय न हो तथा संकेतों का ज्ञाता हो।[1] राजा के द्वार की रक्षा करने वाले प्रतिहारी (द्वारपाल) में भी ये ही गुण होने चाहिये। उसका शिरोरक्षक (अथवा अंग रक्षक) भी इन्हीं गुणों से सम्पन्न हो।[2]

हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, बेगार में पकड़े गये बोझ ढोने वाले, नौकारोही, गुप्तचर तथा कर्तव्य का उपदेश करने वाले गुरु-ये सेना के प्रकट आठ अंग हैं। सेना के गुप्त अंग है- जगम (सर्पदिजनित) और अजंगम (पेड़ पौधों से उत्पन्न), विष आदि चूर्ण, योग अर्थात् विनाशकारक औषधियां यह गोपनीय दण्ड साधन (विष आदि) शत्रु पक्ष के लोगों के वस्त्र आदि के साथ स्पर्श कराने अथवा उनके भोजन में मिला देने के उपयोग में आता है।[3] सेना में कुछ लोगों को दस-दस सैनिकों का नायक बनावें, कुछ को सौ का तथा किसी प्रमुख और आलस्य रहित वीर को एक हजार योद्धओं का अध्यक्ष नियुक्त करे।[4] सेना में सबसे आगे कुलीन एवं शक्तिशाली पैदल सिपाहियों को रखना चाहिये।[5] गजरोहियों के बीच में रथियों को खड़ा करें। रथियों के पीछे घुड़ सवारों की सेना रखें और उनके बीच में केवल कवच एवं अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित पैदलों की सेना खड़ी करें। जो भूमि जीत ली गयी हो उसकी रक्षा करे परन्तु शत्रुओं के जो सैनिक पराजित होकर भाग रहे हों, उनका बहुत दूर तक पीछा नहीं करना चाहिये।[6] राजा अपने तथा शत्रु के राज्य में ऐसे गुप्तचर नियुक्त करे, जिसको कोई जानता पहचानता न हो तो शत्रु के राज्यों में

---

1. मनुस्मृति : अध्याय 7, श्लोक 190।
2. एतैरैव गुणैर्युक्तः प्रतिहारोऽस्य रक्षिता।
   शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः।। शा0 प0 : अध्याय 85, श्लोक 29।
3. शा0 प0 : अध्याय 59, श्लोक 41 से 43।
4. शा0 प0 : अध्याय 100, श्लोक 31।
5. अग्रतः पुरुषानीकं शक्तं चापि कुलोद्भवम्।
   आवासस्तोयवान् दुर्गः पर्याकाशः प्रशस्यते।। शा0 प0 : अध्याय 100, श्लोक 15।
6. गजानां रथिनो मध्ये रथानामनु सादिनः।
   सादिनामन्तरे स्थाप्यं पदातमपि दंशितम्।। शा0 प0 : अध्याय 99, श्लोक 9 एवं 12।

पाखण्ड, वेशधारी और तपस्वी आदि को ही गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिये।[1] शत्रु के मित्रों में फूट डालने के लिये गुप्तचरों को भेजना चाहिये।[2] जिन लोगों की अच्छी तरह परीक्षा कर ली गयी हो, जो बुद्धिमान होने पर भी देखने में गूंगे, अन्धे और बहरे से जान पड़ते हों तथा जो भूख-प्यास और परिश्रम सहने की शक्ति रखते हों, ऐसे लोगों को ही गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यों में नियुक्त करना चाहिये। राजा एकाग्रचित्त हो सब मंत्रियों, नाना प्रकार के मित्रों तथा पुत्रों पर भी गुप्तचर नियुक्त करे। नगर, जनपद तथा मल्ल लोग जहां व्यायाम करते हों, उन स्थानों में ऐसी युक्ति से गुप्तचर नियुक्त करने चाहिये जिससे वे आपस में भी एक दूसरे को पहचान न सकें। राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा बाजारों, लोगों को घूमने-फिरने के स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षुओं के समुदायों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानों की सभाओं विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओं में शत्रुओं के भेजे हुये गुप्तचरों का पता लगाते रहना चाहिये।[3] राजा को गुप्तचर रूपी नेत्रों के द्वारा ही देखकर सदा इस बात की जानकारी रखनी चाहिये कि मेरे शत्रु तथा मित्र तटस्थ व्यक्ति नगर और छोटे-छोटे ग्रामों में कब क्या करना चाहता है। गुप्तचरों द्वारा नगर तथा छोटे ग्रामों के बाहरी और भीतरी समाचारों को अच्छी तरह जानकर फिर उसके अनुसार कार्य करे।[4] राजा को चाहिये कि वह चौराहों पर तीर्थों में, सभाओं में, धर्मशालाओं में सबकी मनोवृत्ति को जानने के लिये किसी शुद्ध वर्ण वाले पुरुष को (जो वर्ण शंकर न हो) गुप्तचर नियुक्त करें।[5] विजयाभिलाषी राजा सेना में मार्ग-दर्शन कराने के लिये भी गुप्तचरों को नियुक्त करे।[6]

---

1. *चारस्त्वाविदितः कार्य आत्मनोऽथ परस्य च।*
   पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रे प्रवेशयेत्।। शा० प० : अध्याय 140, श्लोक 40।
2. *शा० प० : अध्याय 102, श्लोक 26।*
3. *पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु।*
   यथा न विद्युरत्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते।। शा० प० : अध्याय 39, श्लोक 10 एवं 11, 12।
4. *शा० प० : अध्याय 86, श्लोक 21।*
5. *चतुरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च।*
   यथार्थवर्णे प्रणिधिं कुर्यात् सर्वस्य पार्थिवः।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक 52।
6. *शा० प० : अध्याय 100, श्लोक 14।*

स्पष्ट है कि उन्होंने गुप्तचरों को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। आज तो यह धारणा बन गयी है कि जो राज्य गुप्तचरी का जितना व्यापक संगठन तैयार करता है, वह उतना ही अपने राज्य को सुदृढ़ और स्थिर बनाता है। आजकल राजनीतिक गुप्तचरी वास्तव में दो-मुखी गुप्तचरी है। उसका प्रयोजन जहां अन्य राष्ट्रों के राजनीतिक रहस्यों का पता लगाना होता है, वहीं उनकी राजनीतिक व्यवस्था को अपने पक्ष में मोड़ देना भी रहता है। अमेरिका द्वारा छोटे-छोटे दुर्बल राज्यों के प्रति व्यहृतनीति इसका प्रमाण है।

नगर एवं राजधानी के सुरक्षा सम्बन्धी विचार :-

राजा को चाहिये कि वह नगर में कोष, सेना, मित्रों की संख्या तथा व्यवहार को बढ़ावे। नगर तथा बाहर क ग्रामों में सभी प्रकार के दोषों को दूर करे। अन्न भण्डार तथा अस्त्र-शस्त्रों के संग्रहालय को प्रयासपूर्वक बढ़ावे, सब प्रकार की वस्तुओं के संग्रहालयों की भी वृद्धि करे, शस्त्रों तथा अस्त्रों के कारखानों की उन्नति करे। काठ, लोहा, धन, धान की भूसी, कोयला, बांस, लकड़ी, सींग, हड्डी, मज्जा, तेल, घी, चर्बी, शहद, औषध समूह सन, राल, धान्य, अस्त्र-शस्त्र वाण, चमड़ा, तांत, बेत तथा और बल्वज की रस्सी आदि सामग्रियों का संग्रह रखे। जलाशय (तालाब पोखरे आदि) उद्यान (कुयें, बावड़ी आदि) प्रचुर जलराशि से भरे हुये बड़े-बड़े तालाब तथा दूध वाले वृक्ष-इन सब की राजा को सदा रक्षा करनी चाहिये।[1]

जिस नगर में कोई न कोई दुर्ग हो, जहां अन्न और अस्त्र-शस्त्रों को अधिकता हो, जिसके चारो ओर मजबूत चहारदीवारी और गहरी एवं चौड़ी खाई बनी हो, जहां हांथी, घोड़ो और रथों की बहुतायत हो, जहां विद्वान और कारीगर बसे हों, जिस नगर में आवश्यक वस्तुओं के संग्रह से भरे हुये कई भंडार हो जहां धार्मिक तथा कार्यकुशल मनुष्यों का निवास

---

1. *तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत्।*
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान् निवर्तयेत्। शा० प० : अध्याय 86, श्लोक 11।
भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत्।
निचयान वर्धयेत् सर्वोस्तथा यन्त्रायुधालयान्।। शा० प० : अध्याय 86, श्लोक 12 एवं 13-15।

हो, जो बलवान मनुष्य, हांथी और घोड़ों से सम्पन्न हों, चौराहे तथा बाजार जिसकी शोभा बढ़ा रहे हों, जहां न्याय, विचार एवं न्यायालय सुप्रसिद्ध हों, जो सब प्रकार से शांतिपूर्ण हों, जहां कहीं से कोई भय या उपद्रव न हो, जिसमें रोशनी का अच्छा प्रबन्ध हो, संगीत और वाद्यों की ध्वनि होती रहती है। जहां का प्रत्येक घर सुन्दर और सुप्रशस्त हो, जिसमें बड़े-बड़े शूरवीर और धनाड्य लोग निवास करते हों, वेद मंत्रों की ध्वनि गूंजती रहती हो तथा जहां सदा ही सामाजिक उत्सव और देव पूजन का क्रम चलता रहता हो, ऐसे नगर के भीतर अपने वश में रहने वाले मंत्रियों तथा सेना के साथ राजा को स्वयं निवास करना चाहिये।[1]

प्रत्येक नरेश को बड़ी-बड़ी सड़कें बनवानी चाहिये और जहां-जहां आवश्यकता हो उसके अनुसार जल क्षेत्र और बाजारों की व्यवस्था करनी चाहिये। अन्न के भंडार, शस्त्रागार, योद्धाओं के निवास स्थान, शालायें, गजशालायें, सैनिक शिविर, खाई, गलियों तथा राजमहल, उद्यान-इन सब स्थानों को गुप्त रीति से बनवाना चाहिये, जिससे कभी दूसरा कोई न देख सके। घायलों की चिकित्सा के लिये तेल, चर्म, मधु, घी सब प्रकार के औषध, अंगारे, कुश, मूंज, ढाक, वाण, लेखक घास और विष में बुफाये हुय वाणों का भी संग्रह करावे। इसी प्रकार राजा को चाहिये कि शक्ति, ऋषि और प्रास आदि सब प्रकार के आयुधों, मूल, फूल तथा विष का नाश करने वाले, रोगों का निवारण करने वाले, कुष्ठ का नाश करने वाले-इन चार प्रकार के वैद्यों का विशेष रूप से संग्रह करे। साधारण स्थिति में राजा को नटों, नर्तकों, पहलवानों तथा इन्द्रजाल दिखाने वालों को भी अपने यहां आश्रय देना चाहिये, क्योंकि ये राजधानी की शोभा बढ़ाते हैं और सबको अपने खेल से आनन्द प्रदान करते हैं।[2] जहां सब प्रकार की सम्पत्ति प्रचुर मात्रा में भरी हुयी हो तथा जो स्थान बहुत विस्तृत हो वहां छह प्रकार के दुर्गों का आश्रय लेकर राजा को नये नगर बसाने चाहिये। उन छह दुर्गों के नाम इस प्रकार है- धन्व दुर्ग, दूसरा नाम मरुदुर्ग भी है जिसके चारो ओर बालू का घेरा हो। मही दुर्ग-समतल

---

1. *यत्पुरं दुर्ग सम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।*
   दृढ़प्रकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम्।। शा० प० : अध्याय 86, श्लोक 6 एवं 8 से 10।
2. *विशालान् राजमार्गोश्च कारयीत नराधिपः।*
   प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशम् समाविशेत्।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक 53 एवं 54-60।

जमीन के अन्दर बना हुआ किला या तहखाना। गिरि दुर्ग-पर्वत शिखर पर बना हुआ वह किला जो चारो ओर से उत्तुंग पर्वत मालाओं द्वारा घिरा हुआ हो, गिरि दुर्ग कहलाता है। मनुष्य दुर्ग-फौजी किले का ही नाम मनुष्य दुर्ग है। जल दुर्ग-जिसके चारो ओर जल का घेरा हो। वन दुर्ग-जो स्थान कंटवासी आदि घने जंगलों से घिरा हुआ हो।[1] अन्य राष्ट्र द्वारा आक्रमण न करने पर भी राजधानी तथा पुर की रक्षा करना, वहां पर किसी क्षण शत्रु का मुकाबला करने के लिये पर्याप्त सामग्री, अस्त्र-शस्त्र और रक्षक नियुक्त करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है।[2]

जनपद को शासन-व्यवस्था की दृष्टि से छोटी और बड़ी विभिन्न इकाईयों में संगठित कर लेना चाहिये। जनपद में शासन की सबसे छोटी इकाई गांव है। एक गांव का, दस गांवों का, बीस गांवों का, सौ गांवों का तथा हजार गांवों का अलग-अलग एक-एक अधिपति बनाना चाहिये। गांव के स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह गांवों के मामलों का तथा गांव में जो अपराध होते हों, उन सबका वहीं रहकर पता लगावें और उसका पूरा विवरण दस गांव के अधिपति के पास भेजें। इसी तरह दस गांव वाला बीस गांव वाले के पास और बीस गांव वाला अपने अधीनस्थ जनपद के लोगों का सारा वृत्तांत सौ गांव वाले अधिकारी को सूचित करे फिर सौ गांव का अधिकारी हजार गांव के अधिपति को अपने अधिकृत क्षेत्रों की सूचना भेजे। इसके बाद हजार गांव का अधिपति स्वयं राजा के पास जाकर अपने पास आये हुये सभी विवरणों को उसके सामने प्रस्तुत करे। गांवों में जो आय अथवा व्यय हो, वह सब गांव का अधिकारी अपने पास ही रखे तथा उसमें से नियत का अंश का वेतन के रूप में उपभोग करे। उसी में से नियत वेतन देकर उसे दस गांवों के अधिपति का भी भरण-पोषण करना चाहिये, इसी तरह दस गांवों के अधिपति को भी बीस गांवों के अधिपति का भरण-पोषण करना उचित है।[3] जो सत्कार प्राप्त व्यक्ति सौ गांव का अध्यक्ष हो वह एक गांव की आमदनी को

---

1. *षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्।*
   सर्वसम्पत्प्रधानं यद् बाहुल्यं चापि सम्भवेत्।। शा० प० : अध्याय 86, श्लोक 4 एवं 5।
2. *शा० प० : अध्याय 58, श्लोक 9।*
3. *ग्रामश्याधिपतिः कार्यादशग्राम्यांस्तथा परः।*
   द्विगुणाया शतस्यैवं सहस्नस्य च कारयेत्।। शा० प० : अध्याय 87, श्लोक 3 एवं 4-6।

उपभोग में ला सकता है। वह बहुत बड़ी बस्ती वाला, मनुष्यों से भरपूर और धन-धान्य से सम्पन्न हो। उसका प्रबन्ध राजा के अधीनस्थ अनेक अधिपतियों के अधिकार में रहना चाहिये। सहस्त्र गांव का श्रेष्ठ अधिपति एक शाखा नगर (कस्बे) की आय पाने का अधिकारी है। उसे कस्बों में जो अन्न और सुवर्ण की आय हो, उसके द्वारा वह इच्छानुसार उपभोग कर सकता है।[1] इन अधिपतियों के अधिकार में जो युद्ध सम्बन्धी तथा गांवों के प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य सौंपे गये हों उनकी देखभाल कोई आलस्यरहित धर्मज्ञ मंत्री किया करे अथवा प्रत्येक नगर में एक ऐसा अधिकारी होना चाहिये जो सभी कार्यों का चिन्तन और निरीक्षण कर सके। जैसे कोई भयंकर ग्रह आकाश में नक्षत्रों के ऊपर स्थित हो परिभ्रमण करता है, उसी प्रकार वह अधिकारी उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित होकर उन सभी सभासद आदि के निकट परिभ्रमण करे और उसके कार्यों की जाच-पड़ताल करता रहे। उस निरीक्षक का कोई गुप्तचर राष्ट्र में घूमता रहे और सभासद आदि के कार्य एवं मनोभाव को जानकर उसके पास सारा समाचार पहुंचाता रहे। रक्षा के कार्य में नियुक्त हुये अधिकारी लोग प्रायः हिंसक स्वाभाव के हो जाते हैं। वे दूसरों की बुराई चाहने लगते हैं और शठतापूर्वक पराये धन का अपहरण कर लेते हैं। ऐसे लोगों से वह सर्वाथ चिन्तक अधिकारी इस सारी प्रजा की रक्षा करे।[2] एक काम पर एक ही व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिये। दो या तीन को नहीं, क्योंकि वे आपस में एक-दूसरे को सहन नहीं कर पाते, एक कार्य पर नियुक्त हुये अनेक व्यक्तियों में प्रायः सदा मतभेद हो ही जाता है।[3] जनपद विभाजन के इस विचार का समर्थन मनु ने भी किया है। उनका यह मत है कि शासन की सुविधा के लिये राष्ट्र विभाजन करना चाहिये। उन्होंने शासन की सबसे छोटी इकाई गांव माना है, गांव के ऊपर दस गांव, फिर बीस गांव, सौ गांव और हजार गांव पृथक

---

1. *शा० प० : अध्याय 87, श्लोक 7-8।*
2. *तेषां संग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामकृत्यं च तेषु यत्।*
   धर्मज्ञः सचिवः कश्चिद् तत्पश्येदतन्द्रितः।। शा० प० : अध्याय 87, श्लोक 9।
   नगरे नगरे व स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः। शा० प० : अध्याय 87, श्लोक 10 एवं 11-12।
3. *नैव द्वौ त्रयः कार्या न मृष्येरन् परस्परम्।*
   एकार्थे ह्येव भूतानां भेदो भवति सर्वदा।। शा० प० : अध्याय 80, श्लोक 25।

रूप में संगठित होना चाहिये।[1]

राजा को किले में राज्य की सीमा पर नगर और गांव के बगीचों में सेना रखनी चाहिये। इसी प्रकार सभी पड़ावों पर बड़े-बड़े गांवों और नगरों में अन्तःपुर में तथा राजमहल के आस-पास भी रक्षक सैनिकों की नियुक्ति करनी चाहिये।[2]

उल्लेखनीय है कि कृष्ण द्वारा व्यक्त नगर रक्षा की युक्तियों का उनकी अनुपस्थिति में उग्रसेन द्वारा द्वारिका की रक्षा में पालन किया गया था। चारो ओर ध्वजा पताका और बंदनवार बंधवाई, योद्धाओं के आवास व शत्रु विध्वंशकारिणी शतब्धी आदि यन्त्र, सुरंगे और सुरंगे खोदने वाले पुरुष नगरी में तैयार रखे। नगर के भीतर शत्रु का प्रवेश रोकने के लिये नगर में और नगर में आने वाले बाहरी मार्गों पर लोहे की नुकीली कीलें गढ़वा दीं। घरों के ऊपरी भागों में और नगर द्वारों पर अन्न के भण्डार भरवाकर भोजन के लिये तैयार रखे। शत्रुओं को परास्त करने के लिये सैनिकों की टोलियां स्थापित कीं। रणनीति के अनुसार द्वारिकापुरी को युद्ध की समस्त सामग्री से सुसज्जित कर शत्रुओं को पीछे हटा देने में समर्थ, परम प्रसिद्ध कुलों में उत्पन्न और संग्राम का अनुभव प्राप्त वीर पुरुषों को अनेक प्रकार के रथों, घोड़ों और प्यादों को तैयार किया। इसके अतिरिक्त ऐसे मध्य स्थलों पर सैनिकों की मोर्चाबन्दी की जहां से खड़े होकर शत्रु के चारो ओर दिख पड़े और उनका नाश किया जा सके। द्वारिकापुरी की रक्षा के लिये शत्रुओं की छावनियों को उड़ा देने वाले योद्धा भी नियुक्त किये। नगर के आसपास की खाईयां नुकीली कीलों से भरवा दीं। नगर के आसपास एक कोस तक कुयें और आग की भट्ठियां खुदवाकर जमीन को ऊंचा-नीचा करवा दिया। नगरी का कोई भी मनुष्य बिना राजकीय परवाना दिखलाये नगरी के बाहर नहीं जाने पाता था। इसी प्रकार बाहर नगरी के भीतर आने वालों को भी राजकीय परवाना दिखलाना पड़ता था। नगरी की

---

1. *ग्राम दोषो-समुत्पन्नान ग्रमिका सनैकः स्वयम्।*
   संसेप ग्राम दशेशाय दशशो विराती शिनम्।। मानव धर्मशास्त्र : अध्याय 7 श्लोक 116।
   विशंती शस्तु तत्सर्वे शतेशाय निवेदयात्।
   शंसेप ग्राम शतेशस्तु सहस्त्रेपतये स्वयम्।। मानव धर्मशास्त्र : अध्याय 7 श्लोक 117।
2. *शा० प० : अध्याय 69, श्लोक 6-7।*

समस्त गलियों में और समस्त चौराहों पर बहुत से हाथियों और घोड़ों की सेनायें खड़ी की गयी थीं।[1]

कृष्ण के अनुसार न केवल युद्ध के समय अपितु युद्ध की आशंका की स्थिति में भी नगर की रक्षा आवश्यक है। राजा पौण्डुक के आक्रमण की आशंका के कारण कृष्ण ने नगर की रक्षा और व्यवस्था देते हुये कहा-''वह थोड़ा सा भी छिद्र पा जायें तो युद्ध के लिये उद्यत होकर द्वारिकापुरी को सताने लग जायें। पुण्ड देश का पौण्डुक थोड़े से साधनों द्वारा वश में आने वाला नहीं है, अतः आप लोग सदा धनुष लेकर युद्ध के लिये तैयार खड़े रहें जिससे यदुकुल की निवास भूमि द्वारिकापुरी को पौण्ड्रक बाधा न दे सके। मैं किसी कारणवश कैलाश पर्वत को जाऊंगा........ जब तक मैं लौट कर न आऊं तब तक आप लोग यहां नगर की रक्षा के लिये सतर्क व सावधान रहें। यदि राजेन्द्र पौण्ड्रक यह जान लेना कि मैं द्वारिकापुरी में नहीं हूं तो वह अवश्य आक्रमण करेगा और इस नगर के साथ युद्ध छेड़ देगा, राजेन्द्रगण मैं तो ऐसा मानता हूं कि पौण्डुक इस पुरी को यादवों से सूनी कर सकता है। अतः आप लोग खड्ग, पाश और फर्से लेकर युद्ध के लिये सदा तैयार रहें। पाषाणों तथा आक्रमण करने वाले अपने यंत्रों के द्वारा आप लोग सदा सन्नद रहें। बड़े-बड़े फाटकों की किवाड़ें बन्द करके यत्नपूर्वक पुरी की रक्षा करें। नगर से बाहर आने - जाने के लिये एक ही सदा बड़ा फाटक काम में लाया जाये। जो बाहर जाना चाहते हों वह राजा की मुद्रा (पाश) लेकर उसके साथ जा सकते हैं। जिसके पास राजा की मुद्रा न हो वह द्वारपाल को देखते-देखते नगर में प्रवेश न करने पावें। जब तक मैं लौट न आऊं तब तक ऐसी ही व्यवस्था ही रहेगी। इस बीच में शिकार खेलना बन्द कर दिया जाये, नगर से बाहर जाकर क्रीड़ा न की जाये। गमनागमन के समय सदा अपने और पराये की पहचान की जाये। जब तक मेरा आना न हो तब तक इसी तरह की व्यवस्था करनी चाहिये। सत्य के तुम स्वयं कवच पहन कर तलवार, गदा और धनुष हांथ में लेकर नगर की रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहो। द्वारिकापुरी बहुसंख्यक क्षत्रियों की निवास भूमि हैं तुम यत्नपूर्वक खड़े रहो और इसकी रक्षा करो। तुम्हें रात भर नींद नहीं लेनी चाहिये.......... आज

---

1. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत (वन पर्व) : पृ० 65-66।*

से तुम्हें शास्त्रों की व्यवस्था में भी नहीं लगना चाहिये.........अब तुम्हें वादियों के वाद भी नहीं करना चाहिये। तुम योद्धा, बलवान, ज्ञानवान और धनुर्वेद नामक उपवेद के विद्वान हो। अतः ऐसा प्रयत्न करो जिससे यह पुरी उपहास का पात्र न बने..........।'' उद्धव से - ''आपको अपनी नीति से द्वारिकापुरी की रक्षा करनी चाहिये। आप सदा सावधान रहें और इस विषय में हम लोगों की सहायता करें..........नीति मार्ग में प्रवेश करना बहुत ही कठिन है ऐसा नितिज्ञ पुरुष कहते हैं। चार प्रकार की नीति बतलायी जाती है-साम, दान, दण्ड और भेद। मनुष्यों के निग्रह (दूसरे के द्वारा अपना अपव्यय) और अवग्रह अपने द्वारा दूसरों का अवरोध) होने पर सदा इन्हीं चार नीतियों का प्रयोग होता है। जो दण्डनीय (दुर्बल) हों, उन शत्रुओं के प्रति नीतिज्ञ पुरुष दण्डनीति के ही प्रयोग की इच्छा करते हैं और नीति की समता होने पर अर्थात् शत्रु के अपने समान बलशाली होने पर उसके प्रति साम नीति का ही प्रयोग अभीष्ट माना जाता है। शत्रु बलवान हों तो उनके प्रति दाननीति का प्रयोग उचित होता है अर्थात् उन्हें कुछ भेंट देकर शान्त कर देना आवश्यक समझा जाता है। जहां साम, दान और दण्ड - तीनों नीतियों का पहुंच न हो सके वहां महान भेद का प्रयोग करना चाहिये। उन सभी नीतियों में विद्वान पुरुष आपको ही प्रमाण मानते हैं। आपने जिस अवसर पर जैसी नीति का प्रयोग किया है वहां वही उचित था।

न्याय व दण्ड व्यवस्था के सम्बन्ध में व्यक्त विचार :-

राजा को चाहिये कि वह अपनी प्रजा को पुत्रों और पौत्रों की भांति स्नेह दृष्टि से देखे, परन्तु जब न्याय करने का अवसर प्राप्त हो , तब उसे स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिये ।[1] उसे न्याय करने में यमराज के समान होना चाहिये।[2] वह अपराध की अच्छी तरह जांच पड़ताल किये किये बिना

---

1. *माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।*
   नादण्डयो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति।। शा0 प0 : अध्याय 121, श्लोक 60।
   शा0 प0 : अध्याय 267, श्लोक 29।
2. *शा0 प0 : अध्याय 57, श्लोक 18।*
   शा0 प0 : अध्याय 9, श्लोक 42।

ही किसी दण्ड न दे ।[1] जब कोई अभियोग उपस्थित हो और उसमें उभयपक्ष द्वारा दो प्रकार की बातें कही जायें तब उसमें यथार्थता का निर्णय करने के लिये साक्षी का बल श्रेष्ठ माना गया। यथार्थ मौके का गवाह बुलाकर उसमें सच्ची बात जानने का प्रयत्न करना चाहिये । यदि कोई गवाह न हो तथा उस मामले की पैरवी करने वाला कोई मालिक मुख्तार न हो तो राजा को स्वयं ही विशेष प्रयत्न करके उसकी छान-बीन करनी चाहिये तत्पश्चात अपराधी को अपराध के अनुरूप दण्ड देना चाहिये ।[2] राजा न्याय करते समय वादी-प्रतिवादी की बातों को सुनने के लिये अपने पास स्वार्थदर्शी विद्वान पुरुषों को बिठायें रखे क्यों कि विशुद्ध न्याय पर ही राज्य प्रतिष्ठित होता है।[3]

मत्त, उन्मत्त आदि दस प्रकार के अपराधियों के नाम इस प्रकार हैं - (1) मत्त (2) उन्मत्त (3) दस्यु (4) तस्कर (5) प्रतारक (6) षठ (7) लम्पट (8) जुआंरी (9) कृत्रिम लेखक (जालिया) और (10) घूसखोर।[4] राजा को उचित है कि गुरुता या लघुता के अनुसार अपराधी को शारीरिक अथवा अर्थ दण्ड (जुर्माना) दें।[5] अपराधी धनी हो तो उसकी उसकी सम्पत्ति से वंचित कर दे और निर्धन हो तो बन्दी बनाकर कारागार में डाल दें। जो अत्यन्त दुराचारों हों उन्हें मारपीट कर भी राजा राह पर लाने का प्रयत्न करें तथा जो श्रेष्ठ पुरुष हों, उन्हें मीठी वाणी से सान्त्वना देते हुये सुख -सुविधा की वस्तुयें अर्पित करके उनका पालन करें। जो राजा का वध करने की इच्छा करे, जो गांव पर घर में आग लगावे, चोरी करे अथवा व्यभिचार द्वारा वर्णशंकरता फैलाने का प्रयत्न करें ऐसे अपराधी पर दूसरों को दण्ड न दे बल्कि शास्त्र के अनुसार विचार करके अपराध सिद्ध होता हो तो अपराधी को कैद करे और सिद्ध न होता हो तो उसे मुक्त कर दे ।[6]

---

1. *नापरीक्ष्य नयेद् दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।*
   विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु।। शा० प० : अध्याय 70, श्लोक 7।
2. *शा० प० : अध्याय 85, श्लोक 19-20।*
3. *श्रोतुं चैव न्यसेद् राज प्रज्ञान् सर्वार्थदर्शिनः।*
   व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक 28।
4. *शा० प० : अध्याय 88, श्लोक 14-15।*
5. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत (शा० प०) : पृ० 199।*
6. *राज्ञो वधं चिकीर्षेद् यस्तस्य चित्रो वधो भवेत्।*
   आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरिकस्य च।। शा० प० : अध्याय 85, श्लोक 22-25।

दण्ड सम्पूर्ण जगत को नियम के अन्दर रखने वाला है। यह धर्म का सनातन स्वरूप है। इसका उद्देश्य है प्रजा को उद्दण्डता से बचाना।[1] माता-पिता, भाई, स्त्री, पुरोहित कोई भी क्यों न हो, राजा के लिये कोई अदण्डनीय नहीं है।[2] सात अंगो (राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना से युक्त राज्य के विपरीत जो आचरण करे वह गुरु हो या मित्र मार डालने के ही योग्य है। यदि ब्राम्हण कोई संगी अपराध करे तो उन्हें राजा देश निकाले का दण्ड दे। यदि किसी ब्राह्मण सत्य या असत्य का दोष लगा हो तो राजा उसके साथ दया प्रदर्शित करे। निष्ठुर जन को अपने राज्य से निकाल देना चाहिये।[3] राजा के लिये सभी पुरुषों को एक साथ वश में करने का प्रयत्न दुष्कर है इसलिये उसे चाहिये कि प्रधान-प्रधान मनुष्यों को वश में कर ले, शरीर के खोलने वाले, वैश्याओं, कुटट्नियां, वैश्याओं के दलाल, जुआरी तथा ऐसे ही बुरे पेशे करने वाले और भी जितने लोग हों वे समूचे राष्ट्र को हानि पहुचाने वाले हैं अतः इन सबको दण्ड देकर दबाये रखना चाहिये।[4]

शासन प्रणालियों के सम्बन्ध में विचार :-

प्राचीन काल से ही धर्म संस्कृति आदि दृष्टि से एकता विद्यमान रहते हुये भी भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि से कभी भी एक देश नहीं रहा। प्राचीन भारत छोटे-बड़े विभिन्न राज्यों में विभक्त था। जिसमें अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियां प्रचलित थीं। जनसंख्या क्षेत्रफल और शासन की दृष्टि से प्राचीन राज्यों में किसी प्रकार की एकरूपता अथवा सभ्यता नहीं थी। क्योंकि इन राज्यों का शासन देश, काल एवं तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा। महाभारतकालीन भारतवर्ष छोटे-बड़े लगभग दो सौ राज्यों में विभक्त था। जहां भिन्न-भिन्न प्रकार की शासन प्रणालियों तथा शासन-संस्थाओं का प्रचलन था। मुख्यतः महाभारतकालीन जनपदों अर्थात् राज्यों में दो प्रकार - राजतंत्र और गणतंत्र की शासन प्रणालियां प्रचलित थीं। ये जनपद या तो राजाधीन थे अथवा गणाधीन।[5] राजाधीन राज्यों में भी

---

1. *श्रृणु राजन यथा दण्डः सम्भूतो लोकसंग्रहः।*
   प्रजाविनयरक्षार्थे धर्मस्यात्मा सनातनः।। शा० प० : अध्याय 122; श्लोक 14।
2. *शा० प० : अध्याय 121, श्लोक 60।*
3. *चतुर्वेदी श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत (शा० प०) : पृ० 191।*
4. *शा० प० : अध्याय 88, श्लोक 14-15।*
5. *आदि पर्व : अध्याय 1, श्लोक 129।*

एक राज्य, द्वैराज्य, साम्राज्य, भोज राज्य आदि विविध प्रकार की शासन व्यवस्था विद्यमान थीं। इसी प्रकार गणाधीन राज्यों में भी दो प्रकार की शासन प्रणालियां, कुलतंत्र अथवा श्रेणीतंत्र तथा लोकतंत्र प्रचलित थीं। कुछ गणाधीन राज्यों का शासन विशिष्ट कुल अथवा श्रेणी द्वारा संचालित होता था तो अन्य गणराज्यों में शासन-संचालन का कार्य प्रजा के सहयोग से होता था। अराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठय राज्य आदि अन्य जनतंत्रात्मक शासन प्रणालियां थीं।

राज्यों की शासन-प्रणाली में यदाकदा परिवर्तन भी होता रहता था। जहां आरम्भ में गणतंत्र-प्रणाली प्रचलित थी, वहां कालान्तर में राजतंत्र-प्रणाली स्थापित हुई। इसी प्रकार राजतंत्र राज्यों में प्रजातंत्र अथवा गणतंत्र-प्रणाली की स्थापना हुयी। कुछ राज्यों में पारस्परिक सहयोग से संघराज्य स्थापित किये। महाभारत में एक स्थान पर ऐसा भी उल्लेख है कि एक समय में न तो राजा था न राज्य था। न दण्ड था और न ही दण्डविधान। धर्म के द्वारा ही प्रजा एक-दूसरे की रक्षा करती हुई शासन करती थी।[1] परन्तु यह शासन-व्यवस्था अधिक समय तक न चल सकी। सर्वत्र अधर्म का विस्तार हुआ, धर्म का लोप हुआ और 'मत्स्यन्याय' फैला। इस अव्यवस्था से उत्पन्न दोषों के निवारण हेतु प्रजाजनों ने स्वेच्छा से ही राजतंत्र-प्रणाली को स्थापित किया, परन्तु कुछ राज्यों में फिर भी जनतंत्र-प्रणाली बनी रही। अतः स्पष्ट है कि महाभारतकालीन राज्यों में विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियां प्रचलित थीं और आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार इनके स्वरूप में परिवर्तन होते रहते थे। राज्यों की शासन-प्रणाली में परिवर्तन होने पर भी भारतीय शासन-व्यवस्था में सदैव धर्म की प्रधानता रही यहाँ तक कि राजतंत्रीय शासन-प्रणाली में भी राजा कभी निरंकुश और स्वच्छन्द नहीं होने दिया गया। धर्म-नियंत्रित शासन-सत्ता में समानता, भ्रातत्व और स्वतंत्रता के आधार पर प्रजा के सभी लोग सुखी जीवन व्यतीत करते हुये राष्ट्र को उन्नत और समृद्ध बनाने में स्वतः योगदान देने में सदैव तत्पर रहते थे।

---

1. *न वै राज्यं न राजाऽऽसीनन्न च दण्डो न दण्डिकः।*
   धर्मेणेव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्मृ परस्परम् ।।
   शा० प० : अध्याय 59, श्लोक : 14।

स्थानीय स्वशासन एवं स्थानीय संस्थायें :-

प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण देन है स्थानीय स्वशासन। सभी छोटे-बड़े राज्यों में चाहे वह राजाधीन हों अथवा गणाधीन। स्थानीय स्वशासन संस्थायें विद्यमान थीं। प्राचीन भारतीय राज्यों की शासन प्रणाली में स्थानीय स्वशासन ही वह महत्वपूर्ण भावना थी, जिसने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अखण्डता, प्रजा की स्वतंत्रता और प्रजा के अधिकारों को सदैव सुरक्षित रखा। स्वायत्त शासन द्वारा ही जनता में राजनीतिक चेतना व्याप्त होती थी। इसलिये वे राज्य के सभी कार्यों में सुचारू रूप से भाग लेते थे और राष्ट्र की उन्नति में यथाशक्ति अपना योगदान देने में गौरव अनुभव करते थे। स्थानीय स्वायत्त-संस्थानों ने ही समय-समय पर उन दृढ़ प्रजातंत्रात्मक परम्पराओं के रूप में प्रतिनिधित्व किया और अभी तक उन्हें सजीव बनाये रखा, जो प्राचीन समय से भारतीय राज्य की समृद्धि और सम्पन्नता के आधार रहे हैं।

प्राचीन भारत में स्वायत्त-संस्थायें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठनों के रूप में इतनी शक्तिशाली थी कि प्रायः राज्य के सभी प्रशासकीय, औद्योगिक, न्यायिक तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में कार्य करते हुये राज्य की प्रशासन-व्यवस्था में अभूतपूर्व योगदान देती थीं। महाभारतकालीन में जातीय संस्थायें, यथा ग्राम पंचायत, ग्राम सभा, स्थानीय निगम, श्रेणी सार्थ आदि ऐसी ही स्वायत्त स्थानीय संस्थायें थीं।[1] इन संस्थाओं के अपने धर्म नियम और कानून होते थे, जिसके अनुसार इनका संगठन तथा संचालन होता था। तत्कालीन परिस्थितियों में मानवीय जीवन के उच्च आदर्शों की प्राप्ति एवं प्रगति हेतु इन संस्थाओं का जन्म हुआ था। राज्य सत्ता इनके साथ समुचित व्यवहार करती थी, और इनकी आन्तरिक व्यवस्था में अनावश्यक हस्तक्षेप न करते हुये इनके परम्परागत अधिकारों और मान्यता प्राप्त विधियों का आदर करती थी। इसलिये कृष्ण यह आदेश देते हैं कि धर्मज्ञ राजा, जाति धर्म, देश

---

1. *सभा पर्व : अध्याय 5, श्लोक 81।*
   वन पर्व : अध्याय 64, श्लोक 127।

धर्म, कुल धर्म एवं श्रेणी धर्म का भली-भांति पालन करे और उनके अनुसार ही धर्म की व्यवस्था करे।[1] स्मृतिकार मनु ने भी उक्त कथन का समर्थन किया है।[2] डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने तो स्वशासन को राजनीतिक ढांचे का प्राण कहा है।[3] जो सर्वथा उचित है।

प्राचीन भारत की परिस्थितियों में जबकि आधुनिक सुविधा, यातायात अथवा संसार के साधनों का अभाव था, ग्रामों, नगरों एवं जनपदों की राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थायें भिन्न-भिन्न थीं। विस्तृत और विशाल राज्य में केन्द्रीय सत्ता द्वारा सुदृढ़ शासन-व्यवस्था की स्थापना सर्वथा असम्भव सी थी। स्वशासन संस्थाओं का होना नितान्त आवश्यक था। इन्हीं स्थानीय स्वशासन की प्रशासकीय इकाईयों के माध्यम से प्रजाजन अपने राजनीतिक अधिकारों का भली प्रकार प्रयोग करते थे। सभी छोटी-बड़ी इकाईयां अधिकाधिक अधिकारों से सम्पन्न हो अधीनस्थ क्षेत्रों का भलीभांति शासन करते हुये राज्य तथा केन्द्रीय सत्ता को पूरा-पूरा सहयोग प्रदान करती थीं। इस प्रकार ये देश को उन्नत और समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। केन्द्रीय सत्ता द्वारा आवश्यक हस्ताक्षेप न होने के कारण ग्राम आदि स्वशासित इकाईयां अपने कार्यों को भलीभांति सम्पादित करने में समर्थ होती थीं। यही कारण है कि प्राचीन भारत में बड़े-बड़े राजनीतिक उथल-पुथल होने और साम्राज्यों के उत्थान - पतन आदि के अस्थिर वातावरण में भी स्थानीय स्वाशासन संस्थाओं का कभी लोप नहीं हुआ और न ही इनकी महत्ता में कोई कमी आयी। वास्तव में विशाल राज्य को सुव्यवस्थित प्रशासन-संचालन के उद्देश्य से प्रशासकीय स्वाशासित इकाईयों और संस्थाओं की स्थापना करके हमारे प्राचीन राजनीतिज्ञों ने बड़े साम्राज्यों के सुसंचालन का एक अद्भुत सूत्र प्रस्तुत किया है। जिसे आधुनिक शासन-व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण स्थान है।

नगर की रक्षा, घातक तत्वों के प्रतिरोध, उपद्रवीजनों, चोर, डाकू आदि को पकड़ने और प्रजा का भय-निवृत्ति हेतु गुत्मों (सैनिकों) की व्यवस्था की जाती थी। दुर्गों,

---

1. *शा० प० : अध्याय 66, श्लोक : 29।*
2. *मनुस्मृति : अध्याय 8, श्लोक : 41।*
3. *आर०के० मुखर्जी : लोकल सेल्फ गर्वनमेन्ट इन एन्सिएन्ट इण्डिया, इन्ट्रोडक्सन, दिल्ली (1958)*

राज्य की सीमाओं, उद्यानों, सार्वजनिक संस्थाओं, नगरों के साथ-साथ अन्तःपुर और राजमहल में भी स्थायी रूप से सैनिकों को नियुक्त किया जाता था।[1] इन स्थायी प्रबन्धों के अतिरिक्त सम-विषम परिस्थितियों के निरीक्षण एवं इनसे प्रजा की रक्षा हेतु अनेक पुरुषों की भी नियुक्ति की जाती थी। जो सैनिकों से युक्त एक समूह के रूप में विचरण करते हुये चोर-डाकुओं को पकड़ा करते थे।[2] ये आज-कल के पुलिस विभाग की भांति ही थे। महाभारतकाल में ऐसी संस्था के माध्यम से सुरक्षा प्रबन्ध का प्रचलन था। आदि पर्व में एक ऐसा ही प्रसंग है जहां बहुत से रक्षक एवं सैनिक पुरुषों ने असामाजिक तत्वों का पीछा करते हुये महर्षि अणिमाडव्य के आश्रम में छिपे हुये चोरों को पकड़ा था।[3] अतः स्पष्ट है कि ये रक्षक पुरुष सदैव सक्रिय रहते हुये नगर की रक्षा करने और समाज-कंटकों का पता लगाने में प्रयत्नशील रहते थे।

राजस्व प्रशासन विषयक विचार :-

प्रायः सभी भारतीय राजनीतिज्ञों और शास्त्रवेत्ताओं ने एक मत होकर कोष अर्थात् धन का गुणगान किया है। सभी ने इसे उद्देश्यपूर्ति का एक प्रमुख साधन माना है। कोष अथवा धन के अभाव में मनुष्य एक छोटा सा कार्य भी पूर्ण नहीं कर सकता तब कोष रहित राजा अपने राज्य का शासन संचालन जैसा जटिल और महान कार्य तो किसी भी अवस्था में सम्पादित करने में समर्थ नहीं हो सकता। महाभारतकाल ने इसे राज्य का एक अभिन्न और अनिवार्य अंग मानते हुये राजा को आदेश दिया है कि वह प्रयत्नपूर्वक निरन्तर कोष का संग्रह करें, संग्रह करने के पश्चात उसी भली प्रकार रक्षा करे और रक्षा करते हुये उसकी वृद्धि करने में सदैव प्रयत्नशील रहे।[4]

---

1. *न्यसेत् गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।*
   नगरोपवने नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन्।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 6-7।
2. *सभा पर्व : अध्याय 5, श्लोक 83।*
3. *आदि पर्व : अध्याय 106, श्लोक : 4-11।*
4. *शा० प० : अध्याय 133, श्लोक : 2।*

अतः स्पष्ट है कि प्रशासन-व्यवस्था में कोष का स्थान अद्वितीय रहता है। राजा की सैन्य-शक्ति कोष पर ही पूर्णरूपेण आश्रित है, क्योंकि कोष विहीन राजा की सेना अशान्त, अतृप्त और क्रोधित होकर उसके विनाश का कारण बन जाती है। परिणामस्वरूप राज्य में सर्वत्र अशांति और विद्रोह का सा वातावरण बन जाता है। ऐसी अवस्था में न राजा ही राज्यसुख भोग सकता है और न ही राज्य की प्रजा। यदि कहा जाये कि स्वतंत्रता और स्थिरता और स्थिरता का भी भय बन जाता है तो असंगत न होगा। इसकी पुष्टि में महाभारतकार का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि बलहीन राजा के पास कोष नहीं रह सकता, कोषहीन के पास सेना नहीं रह सकती और सेना विहीन राजा के राज्य का टिकना भी सर्वथा असम्भव है।[1]

राज्य कोष नष्ट होने से राजा का मूलाधार बल भी नष्ट हो जाता है। कोष और सेना के अभाव में राजा को समस्त प्रजाजनों की ओर से पराभव प्राप्त होने लगता है। इस आशांति के वातावरण में शत्रु आदि राजा पर धावा बोलने से नहीं चूकते। सारांशतः कोष के क्षय होने का अनिवार्य परिणाम राजा के बल का क्षय है। इसीलिये राजा को आदेश देते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि वह अपने तथा शत्रु के राज्य से धन लेकर अपना कोष से ही धर्म की वृद्धि होती है। और राज्य की जड़ें सुदृढ़ होती है।[2] राजा को पूरा प्रयत्न करके कोष की वृद्धि और रक्षा करते रहना चाहिये क्योंकि कोष की उसकी जड़ होने के कारण उसे आगे बढ़ाने में सहायक होता है।[3]

उसे धर्म और न्याय से धन संग्रह करना चाहिये। जैसे कपड़ा नारी के गुप्त अंगों को छिपाये रखता है उसी प्रकार लक्ष्मी राजा के सारे दोषों को ढंक लेती है।[4] खजाना नष्ट होने से ही राजा के बल का नाश होता है।[5] राजा का चाहिये कि अपने तथा शत्रु के राज्य

---

1. *शा० प० : अध्याय 133, श्लोक : 4।*
2. *स्वराष्ट्र परराष्ट्रच्च कोषं सृंजनयेन्नमः।*
   कौशाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमलं च वर्धते।। शा० प० : अध्याय 133, श्लोक : 1।
3. *कौशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थीय राजभिः।*
   कौशमूला कि राजानः कोषो वृद्धिकरोभवेत्।। शा० प० : अध्याय 119, श्लोक : 16।
4. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 6-7।*
5. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 12।*

से धन लेकर खजाने को भरे।[1] ब्राम्हण के सिवाय अन्य सभी वर्णों के धन का स्वामी राजा होता है। यह वैदिक मत है, ब्राम्हणों में भी जो कोई अपने वर्ण के विपरीत कर्म करते हों उनके धन पर भी राजा का अधिकार है।[2] राजा बड़ी युक्ति के साथ प्रजा से कर वसूल करे। उसे धर्म और न्याय से धन संग्रह करना चाहिये।[3] साम, दाम और भेद इन तीन उपयों से ही राजा के लिये धन की आय बतायी है। इन उपायों से जो धन प्राप्त किया जा सके उसी से विद्वान राजा को संतुष्ट होना चाहिये। बुद्धिमान नरेश प्रजाजनों से उन्हीं की रक्षा के लिये उनकी आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करे।[4] प्रजा की आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करके, उचित शुल्क या टैक्स लेकर अपराधियों को आर्थिक दण्ड देकर तथा शासन के अनुसार व्यापारियों की रक्षा आदि करने के कारण उनके दिये हुये वेतन लेकर इन्हीं उपायों तथा भागों से राजा को धन संग्रह की इच्छा रखनी चाहिये।[5] राजा को माल की खरीद, बिक्री, उसके मंगाने का खर्च, उसमें काम करने वाले, नौकरों के वेतन, बचत और योगक्षेम के निर्वाह की ओर दृष्टि रखकर ही व्यापारियों पर कर लगाना चाहिये। इसी तरह माल की तैयारी, उनकी खपत तथा शिल्प की उत्तम, मध्यम आदि श्रेणियों का बार-बार निरीक्षण करके शिल्प एवं शिल्पकारों पर कर लगावे। महाराज को चाहिये कि वह लोगों की हैसियत के अनुसार भारी और हल्का कर लगावे। भूपाल को इतना ही कर लेना चाहिये जितने से प्रजा संकट में न पड़ जाये। उनका कार्य और लाभ देखकर ही सब कुछ करना चाहिये। लाभ और कर्म दोनों ही यदि निष्प्रयोजन हुये तो कोई भी काम करने में प्रवृत्त नहीं होगा अतः जिस उपाय से राजा और कार्यकर्ता दोनों को कृषि, वाणिज्य आदि कर्म के लाभ का भाग प्राप्त हो, उस पर विचार करके राजा को सदा करों का निर्णय करना चाहिये। राजा अधिक शोषण करने

---

1. *स्वराष्ट्रात् परराष्ट्राश्च कोशं संजनयेन्नृपः।*
   कोषाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलं च वर्धते।। शा० प० : अध्याय 133, श्लोक : 1।
2. *शा० प० : अध्याय 76, श्लोक : 10।*
3. *चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत शा० प० (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ 6।*
4. *शा० प० : अध्याय 76, श्लोक : 25।*
5. *शा० प० : अध्याय 71, श्लोक : 10।*

वाला विख्यात हो जाये तो सारी प्रजा उससे द्वेष करने लगती है।[1] राजा कर वसूल करने के लिये कृषकों का अनाज खेतों में न रुकवाये क्योंकि ऐसा करने से वह अनाज वर्षा आदि द्वारा नष्ट हो जाता है।[2] अतः उसे देखते रहना चाहिये कि किसान लोग अधिक लगान लिये जाने के कारण अत्यन्त कष्ट पाकर राज्य छोड़कर तो नहीं जा रहे हैं, क्योंकि किसान लोग ही राजाओं का भार ढोते हैं और वे ही दूसरों का ही भरण-पोषण करते हैं।[3] वह लुटेरों तथा अकर्मण्य मनुष्यों के धन का अपहरण कर सकता है।[4] सोने आदि की खान, नमक, अनाज आदि की मण्डी, नाव के घाट तथा हाथियों के यूथ-इन सब स्थानों पर निरीक्षण के लिये मन्त्रियों को अथवा हित पाने वाले विश्वसनीय पुरुषों को राजा नियुक्त करे।[5]

यदि राज्य में किसी आपत्ति के कारण अथवा शत्रु से युद्ध करने के कारण राजकोष रिक्त हो गया है और राज्य संचालन के लिये धन की आवश्यकता हो तो ऐसी स्थिति में राजा को प्रजा पर विशेष कर लगाने का अधिकार है। परन्तु कर लगाने के पूर्व राजा इस परिस्थति से प्रजा को अवगत कराये और राष्ट्र पर आने वाले भय की ओर सबका ध्यान आकर्षित करे। फिर अपने राज्य में सर्वत्र दौरा करे। वह लोगों से कहे-अपने देश पर यह बहुत बड़ी आपत्ति आ पहुंची है, शत्रु दल के आक्रमण का महान भय उपस्थित है। जैसे बांस में फल का लगना बांस के विनाश का ही कारण होता है, उसी प्रकार मेरे शत्रु बहुत से लुटेरों को साथ लेकर अपने ही विनाश के लिये उठकर मेरे इस राष्ट्र को सताना चाहते हैं। इस घोर आपत्ति और दारूणभय के समय में आप लोगों की रक्षा के लिये धन मांग रहा हूं। जब यह भय दूर हो जायेगा उस समय यह सारा धन आप लोग फिर प्राप्त कर सकोगे। शत्रु आकर यहां से बल पूर्वक जो धन लूट ले जायेंगें, उसे वे कभी वापस नहीं करेंगे। शत्रुओं का आक्रमण होने पर आपकी स्त्रियों पर पहले संकट आयेगा। उसके साथ ही आपका सारा धन

1. *शा० प० : अध्याय 87, श्लोक : 17, 18, 19।*
2. *चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत शा० प० (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ 195।*
3. *शा० प० : अध्याय 89, श्लोक : 24।*
4. *न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देवस्वमेव च।*
   दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति।। शा० प० : अध्याय 136, श्लोक : 2।
5. *शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 29।*

नष्ट हो जायेगा। स्त्री और पुरुषों की रक्षा के लिये ही धन संग्रह की आवश्यकता होती है। जैसे पुत्रों के अभ्युदय से पिता को प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार मैं आपके प्रभाव से आप लोगों की बढ़ती हुयी समृद्धि-शक्ति से आनन्दित होता हूं। इस समय राष्ट्र पर आये हुये संकट को टालने के लिये मैं आप लोगों से आपकी शक्ति के अनुसार ही धन ग्रहण करूंगा, जिससे राष्ट्रवासियों को किसी प्रकार का कष्ट न हो। किसी विपत्ति के समय धन को अधिक प्रिय मानकर छिपाये रखना आपके लिये उचित न होगा।[1] समय की गतिविधि को पहचानने वाले राजा को चाहिये कि वह इस प्रकार स्नेहयुक्त और अनुनयपूर्ण मधुर वचनों द्वारा समझा बुझाकर कर ग्रहण करे। राजा अपने पैदल सैनिकों या सेवकों को प्रजाजनों के घर पर धन संग्रह के लिये भेजे।[2] संकटकाल के समय यदि राज्यवासी सेठ-साहूकार धन द्वारा सहायता न करें तो उनके धन को यह कहकर 'यह धन मेरा है' बरजोरी ले ले।[3] नगर की रक्षा के लिये चहारदीवारी बनवानी है, सेवकों और सैनिकों का भरण-पोषण करना है, अन्य आवश्यक व्यय

---

1. *प्रागेव तु घनादानममुभाष्य ततः पुनः।*
   सैनिपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत्।।
   इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रमयं महत्।
   अपि चान्ताय कल्पन्ते वणोरिव फलागमः।।
   अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
   इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम्।।
   अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारूणे भये।
   परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये घनादि वः।।
   प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
   नारयः प्रतिदस्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः।।
   कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनिशेदिति।
   अपि चेत् पुत्रदारार्थमर्थसंचय इष्यते।।
   नन्दाभि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये।
   यथाशक्त्युपगृहणामि राष्ट्रायापीडया च वः।।
   आपत्स्वैव च वोढव्यं भवदिभः पुंगवैरिव।
   न च प्रियतरं कार्यं धनं कस्यांचिदापदि।।

   शा० प० : अध्याय 87, श्लोक : 26 से 33।
2. *शा० प० : अध्याय 87, श्लोक : 34।*
3. *चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत शा० प० (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ 4।*

करने हैं, युद्ध के भय को टालना है तथा सबके योगक्षेम की चिन्ता करनी है, इन सब बातों की आवश्यकता दिखाकर राजा धनवान वैश्यों से कर वसूल करे।[1] राजा आपत्तिकाल में धनवान पुरुषों से बलपूर्वक धन ग्रहण करे।[2] संकटकाल में निर्धन प्रजा से भी यथा साध्य ध ान लेकर अपना कोष बढ़ाये।[3] आपत्तिकाल में कोष संग्रह के लिये प्रजा को पीड़ा देकर भी राजा दोष का भागी नहीं होता।[4] आपत्तिकाल में यदि कोई मनुष्य प्रजा रक्षण के लिये किये जाने वाले कोष संग्रह में बाधा उपस्थित करे, तो उसका बध कर देना चाहिये।[5] पुत्र, भाई, पिता अथवा मित्र जो अर्थ प्राप्ति में विघ्न डालने वाले हों, उन्हें राजा मार डाले।[6] आपत्तिकाल में प्रजा पीड़न अर्थ संग्रह रूप प्रयोजन का साधक होने के कारण अर्थ कारक होता है।[7]

राजा धान्यादि पदार्थों का भी संग्रह करे।[8] जो धन राज्य की सुरक्षा करने से बचे, उसी को धर्म और उपभोग के कार्य में खर्च करना चाहिये। शास्त्रज्ञ और मनस्वी राजा को कोषागार के संचित धन से द्रव्य लेकर भी खर्च नहीं करना चाहिये।[9] थोड़ा सा भी धन मिलता हो तो उसका तिरस्कार न करे।[10] राजा वृद्ध, बालक, दीन और अनाथ तथा अन्धे मनुष्य की रक्षा करे। पानी न बरसने पर जब प्रजा कुआं खोद कर किसी तरह सिंचाई करके कुछ अन्न पैदा करे जो उसी से जीविका चलाती हो तो राजा को वह धन नहीं लेना चाहिये तथा किसी क्लेश में पड़कर रोती हुयी स्त्री का भी धन न ले। यदि किसी दरिद्र का धन छीन

---

1. *शा० प० : अध्याय 87, श्लोक : 35।*
2. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 26।*
3. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 13।*
4. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 36।*
5. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 42।*
6. *पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता व यदि वा सुहृत।*
   अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छिता।। शा० प० : अध्याय 140, श्लोक : 47।
7. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 38।*
8. *चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत शा० प० (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ 199।*
9. *शा० प० : अध्याय 120, श्लोक : 35।*
10. *नार्थमल्पं परिभवेन्नावमन्येत शास्त्रवान्।*
    बुद्धय्या तु बुद्धय्येदात्मानं न चाबुद्धिषुविश्वसेत्।। शा० प० : अध्याय 120, श्लोक : 36।

लिया जाये तो वह राजा के राज्य का और लक्ष्मी का विनाश कर देता है। अब राजा को चाहिये कि दीनों का धन न लेकर उन्हें महान भोग अर्पित करे और श्रेष्ठ पुरुषों को भूख का कष्ट न होने दे।[1]

पराजित राज्यों के सम्बन्ध में व्यक्त विचार :-

जो राजा शत्रुओं को जीत लेने के बाद उनके अपराध क्षमा कर देता है, उसका यश बढ़ता है, उसके प्रति महान अपराध करने पर भी शत्रु उस पर विश्वास करते हैं।[2] जो बल द्वारा पराजित कर दिया हो उसे कैद करके एक साल तक अनुकूल रहने की शिक्षा दे। एक साल बाद उसे छोड़ देना चाहिये।[3] अपने अधिकार में आये हुये देशों में शान्ति स्थापित करना चाहिये।[4] विजयी राजा को चाहिये कि वह मधुर वचन बोलकर एवं उपभोग की वस्तु में देकर पराजित राज्य की प्रजा को शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न कर ले। यही राजाओं की सर्वोत्तम नीति है यदि ऐसा न करके अनुचित कठोरता के द्वारा उन पर शासन किया जात है तो वह दुःखी होकर अपने देश से चले जाते हैं और शत्रु बन कर विजयी राजा की विपत्ति के समय की बाट देखते हुये वहीं पड़े रहते हैं। जब विजयी राजा पर कोई विपत्ति आ जाती है तब वे राजा पर संकट पड़ने की इच्छा रखने वाले लोग विपक्षियों द्वारा सब प्रकार से संतुष्ट होकर राजा के शत्रुओं का पक्ष ग्रहण कर लेते हैं।[5] युद्ध उपस्थित होने पर स्थावर जंगम प्राणियों सहित समस्त देश ही व्यथित हो उठता है। और अस्त्रों के प्रताप से संतप्त हुये देहधारियों की मज्जा भी सूखने लगती है उन देशवासियों के प्रति कठोरता के साथ सांत्वनापूर्ण मधुर वचनों का बारम्बार प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा केवल कठोर वचनो से पीड़ित हो वे सब ओर से जाकर शत्रुओं

---

1. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 27।*
2. *शा० प० : अध्याय 102, श्लोक : 30।*
3. *बलेन विजितो यश्च न तम युद्धेत भूमिपः।*
   संवत्सरं विप्रणयेत् तस्माज्जातः पुर्नभवेत्।। शा० प० : अध्याय 96, श्लोक : 4।
4. *शा० प० : अध्याय 59, श्लोक : 65।*
5. *शा० प० : अध्याय 96, श्लोक : 12, 13, 14।*

के साथ मिल जाते हैं।[1]

मथुरा में अत्याचारी कंस का संहार करके उसका राज्य ही नहीं लिया बल्कि उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठा कर आप एक सामान्य प्रजाजन की भांति अपने माता पिता के पास रहने लगे।[2] करवीर नरेश श्रृंगाल के युद्ध में भाग जाने के वह राज्य कृष्ण ने स्वयं नहीं लिया बल्कि श्रृंगाल के पुत्र को ही गद्दी पर बैठाया। द्वारिका में छावनी और राजधानी कायम करने के पश्चात भी कृष्ण वहां के राजा नहीं बने। उन्होंने जरासन्ध का बध कराया वहां भी उसके पुत्र सहदेव को राजगद्दी पर बैठाया।[3] पौण्ड्रक वासुदेव को मारकर उन्होंने उसका राज्य भी उसी के पुत्र को सौंप दिया। इस तरह कृष्ण ने अपनी सर्वत्र धाक तो बैठा दी पर राज्य किसी का नहीं छीना।[4] उनकी निःसपृहता का यह सबसे बड़ा उदाहरण है कि जबकि वह अपनी दिगविजय में राज्यों को विजयी करते हुये भी उन राज्यों का शासन अपने अधिकार में नहीं लेते किन्तु उन राज्यों के अधिकारी उनके पुत्र, भ्रात, पिता आदि को ही उनका शासन भार सौंप कर उन्हें प्रजापालन रूपी धर्म पालन का राजनीतिक विचार देते हैं।[5] उन्हें राज्य सत्ता से कभी मोह नहीं रहा। राजाओं को परास्त करके भी उनका राज्य उन्हीं के वंश वालों को दिया।[6] कुभाण्ड के समर्पण के बाद कृष्ण ने उसे ही राज्य सौंपते हुये कहा कि अब तुम्हीं यहां राष्ट्रपति बनों और अपने बन्धु-बान्धवों सहित यहां परम सुखी तथा संतुष्ट रहो। मैंने यह राज्य तुम्हें अर्पित कर दिया।[7] पराजय के पश्चात शत्रु के साथ सम्बन्धों में कृष्ण के राजनीतिक विचार अत्यधिक उदार एवं आदर्शों से परिपूर्ण थे। जो विचार महाभारत युद्ध की भूमिका में इस सम्बन्ध में व्यक्त हुये वही उन्होंने अन्यत्र भी स्थापित रखे।

---

1. *शा० प० : अध्याय 103, श्लोक : 25।*
2. *शा० प० : अध्याय 130, श्लोक : 26।*
3. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृष्ठ 13*
4. *प्राणनाथ वानप्रस्थी : सरल महाभारत, पृष्ठ 26।*
5. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृष्ठ 14।*
6. *सभापर्व : अध्याय 25, श्लोक 32।*
7. *सभापर्व : अध्याय 25, श्लोक 40।*

संघ राज्य की शासन-व्यवस्था सम्बन्धी विचार :-

संघबद्ध राज्यों के विनाश का मूल कारण आपस की फूट है। भीष्म, राजा युधिष्ठिर के प्रश्न का समाधान करते हुये गणराज्यों के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुये कहते हैं कि-नरेश्वर गणों में, कुलों में तो राजाओं में वैर की आग प्रज्जवलित करने वाले ये दो ही दोष हैं-लोभ और अमर्ष। पहले एक मनुष्य लोभ का वरण करता है, लोभवश दूसरे का धन लेना चाहता है तदन्तर दूसरे के मन में अमर्ष पैदा होता है फिर वे दोनों लोभ और अमर्ष से प्रभावित हुये व्यक्ति-समुदाय धन और जन की बड़ी भारी हानि उठाकर एक-दूसरे के विनाशक बन जाते हैं। वे भेद लेने के लिये गुप्तचरों को भेजते, गुप्त मंत्रणायें करते तथा सेना एकत्र करने में लग जाते। साम, दाम और भेद नीति के प्रयोग करते हैं तथा जनसंहार, अपार धनराशि के व्यय एवं अनेक प्रकार के भय उपस्थित करने वाले विविध उपायों द्वारा एक-दूसरे को दुर्बल कर देते हैं। संघबद्ध होकर जीवन निर्वाह करने वाले गणराज्य के सैनिकों को भी यदि समय पर भोजन और वेतन न मिले तो वे भी फूट जाते हैं। फूट जाने पर सबके मन एक-दूसरे के विपरीत हो जाते हैं और वे सब के सब भय के कारण शत्रुओं के आधीन हो जाते हैं। आपस में फूट से ही संघ या गणराज्य नष्ट हुये है। फूट होने पर शत्रुओं द्वारा अनायास ही जीत लिये जाते हैं। अतः गणों को चाहिये कि वे सदा संघबद्ध-एकमत होकर ही विजय के लिये प्रयत्न करें।[1] जो सामूहिक बल और पुरुषार्थ से सम्पन्न है, उन्हें अनायास ही सब प्रकार के अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। संघबद्ध होकर जीवन निर्वाह करने वाले लोगों के साथ संघ से बाहर के लोग भी मैत्री स्थापित करते हैं। ज्ञानबद्ध पुरुष गणराज्य के नागरिकों की प्रशंसा करते हैं। संघबद्ध लोगों के मन में आपस में एक-दूसरे को ठगने की

---

1. *गणानां च कुलानां च राज्ञां भरत सत्तम्।*
   वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप।। शा0 प0 : अध्याय 107, श्लोक : 10।
   लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्।
   तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ।। शा0 प0 : अध्याय 107, श्लोक : 11।
   शा0 प0 : अध्याय 107, श्लोक : 12, 13, 14।

दुर्भावना नहीं होतीं, वे सभी एक-दूसरे की सेवा करते हुये सुखपूर्वक उन्नति करते हैं। गणराज्य के श्रेष्ठ नागरिक शास्त्रानुसार धर्मानुकूल व्यवहारों की स्थापना करते हैं, वे यथोचित दृष्टि से सबको देखते हुये उन्नति की दिशा में आगे बढ़ते जाते हैं। गणराज्य के श्रेष्ठ पुरुष पुत्रों और भाईयों को भी यदि वे कुमार्ग पर चलें तो दण्ड देते हैं। सदा उन्हें उत्तम शिक्षा प्रदान करते हैं और शिक्षित होजाने पर उन सबको बड़े आदर से अपनाते हैं। इसलिये वे विशेष उन्नति करते हैं। गणराज्य के नागरिक गुप्तचर या दूत का काम करने, राज्य के हित के लिये गुप्त मंत्रणा करने के लिये, विधान बनाने के लिये तथा राज्य के लिये कोष-संग्रह आदि के लिये सदा उद्यत रहते हैं। इसलिये सब ओर से उनकी उन्नति होती है।[1] संघ राज्य के सदस्य सदा बुद्धिमान, शूरवीर, महान उत्साही, और सभी कार्यों में दृढ़ पुरुषार्थ का परिचय देने वाले लोगों का सम्मान करते हुये राज्य की उन्नति के लिये उद्योगशील बने रहते हैं, इसलिये वे शीघ्र आगे बढ़ जाते हैं। गणराज्य के सभी नागरिक धनवान, शूरवीर, अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता तथा शास्त्रों के पारंगत विद्वान होते हैं। वे कठिन विपत्ति में पड़ कर मोहित हुये लोगों का उद्धार करते रहते हैं। संघ राज्य के लोगों में क्रोध, भेद, भय, दण्ड प्रहार, दूसरों को दुर्बल बनाने, बन्धन में डालने या मार डालने की प्रवृत्ति पैदा हो जाये तो वह उन्हें तत्काल शत्रुओं के वश में डाल देती है। गणराज्य के जो प्रधान अधिकारी हैं, उन सबका सम्मान करना चाहिये, क्योंकि लोकयात्रा का महान भार उनके ऊपर अवलम्बित है। गण या संघ के सभी लोग मंत्रणा सुनने के अधिकारी नहीं हैं। मंत्रणा को गुप्त रखने तथा गुप्तचरों की नियुक्ति का कार्य प्रधान-प्रधान व्यक्तियों के ही अधीन होता है।[2] गण के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को परस्पर मिलकर समस्त गणराज्य के हित का साधन करना चाहिये अन्यथा यदि

---

1. *अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः।*
   वाह्याश्च मैत्री कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु।। शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 15 एवं-
   शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 16, 17, 18, 19।
2. *प्राज्ञांशूरान् महोत्साहान् कर्मसु स्थिरपौरुषात्।*
   मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ।। शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 20 एवं
   शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 21, 22, 23, 24।

संघ में फूट होकर पृथक-पृथक कई दलों का विस्तार हो जाये तो उसके सभी कार्य बिगड़ जाते हैं और बहुत से अनर्थ पैदा हो जाते हैं। परस्पर फूटकर पृथक-पृथक अपनी शक्ति का प्रयोग करने वाले लोगों में जो मुख्य-मुख्य नेता हों, उनका संघ राज्य के विद्वान अधिकारियों को शीघ्र ही दमन करना चाहिये। कुलों में जो कलह होते हैं, उनकी यदि कुल में वृद्ध पुरुषों ने उपेक्षा कर दी हो तो कलह गणों में फूट डालकर समस्त कुल का नाश कर डालते हैं।[1] भीतरी भय दूर करके संघ की रक्षा करनी चाहिये। यदि संघ में एकता बनी रही तो बाहर का भय उसके लिये निःसार है, भीतर का भय तत्काल ही संघ की जड़ काट डालता है। अकस्मात् पैदा हुये क्रोध और मोह से स्वाभाविक लोभ से भी जब संघ के लोग आपस में बातचीत करना बन्द कर दें, तब यह उनकी पराजय का लक्षण है। जाति और कुल में सभी एक समान हो सकते हैं, परन्तु उद्योग रूप और सम्पत्ति में सबका एक होना संभव नहीं है। शत्रु लोग गणराज्य के लोगों में भेद बुद्धि पैदा करके तथा उसमें से कुछ लोगो को धन देकर भी संघ में फूट डाल देते हैं। अतः संघबद्ध रहना ही गणराज्य के नागरिकों का महान आश्रय है।[2]

संघ की फूट के कारण ही अंधक वृष्णि संघ के मुख्य श्रीकृष्ण दुःखित होते हुये महर्षि नारद को कहते हैं-आहुक और अक्रूर ने आपस में वैमनस्य रखकर मुझे इस प्रकार अवरुद्ध कर दिया है कि मैं इनमें से किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। जैसे दो जुआंड़ियों की एक माता एक की जीत चाहती है तो दूसरे की पराजय भी नहीं चाहती, उसी प्रकार मैं भी इन दोनों सुहृदयों में से एक की विजय कामना करना हूं तो दूसरे की पराजय भी नहीं चाहता। इस प्रकार मैं सदा उभय पक्ष का हित चाहने के कारण दोनों ओर से कष्ट पाता रहता हूँ।[3] कृष्ण की दुर्दशा सुनकर नारद मुनि उन्हें समझाते हैं कि अपनी शक्ति के अनुसार सदा

---

1. *गणामुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः।*
   पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा।। शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 25 एवं शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 26 एवं 27।
2. *अभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम्।*
   अभ्यान्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति।। शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 28 एवं शा० प० : अध्याय 107, श्लोक : 29, 30, 31, 32।
3. *शा० प० : अध्याय 81, श्लोक : 9, 11, 12।*

दान-पुण्य करके सहनशीलता, कोमलता, सरलता, यथा योग्य आदर-सत्कार द्वारा ही आप उन पर काबू पा सकते हैं। जब वे कड़ुवी तथा ओछो बात बोलें तब आप मधुर वचन से उनके हृदय, वाणी और उनके मन को शान्त कर दें। समतल भूमि पर सभी बैल भारी भार वहन कर लेते हैं, पर दुर्गम भूमि पर कठिनाई से वहन करने योग्य गुरुतर भार को अच्छे बैल ढो सकते हैं। आप इस संघ के मुखिया हैं, इनकी फूट समूचे संघ का विनाश कर देगी अतः आप ऐसा करें, जिससे आपके होते हुये संघ का मलोच्छेद न होजाये।[1]

गणराज्य के उपर्युक्त दोनों दोष कलह और फूट का होना तथा मंत्रणा को गुप्त न रखे जा सकने के कारण ही जनतंत्रात्मक शासन प्रणालियों के राज्यों का पतन हुआ। शत्रुओं ने इन दोनों दोषों से लाभ उठाकर राज्य के लोगों में फूट डालकर और उनकी एकता को नष्ट करके इन राज्यों पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की, यद्यपि इन राज्यों को सशक्त सेना द्वारा पराजित करना प्रायः असंभव ही था। इन्हीं दो प्रमुख दोषों के कारण ही भारतवर्ष में प्रजातंत्रात्मक राज्य शनैः-शनैः लुप्त होते चले गये और चौथी शताब्दी ईस्वी के पश्चात् ये प्रायः लुप्त ही हो गये।[2]

इसी प्रसंग में कृष्ण नारद जी से कहते हैं कि- अन्धक और वृष्णि वंश में और भी बहुत से नेता है, जो महान पराक्रमी और राजनीतिक बल से सम्पन्न है, वे जिनके पक्ष में हो जाते हैं उनकी सब बातें सध जाती हैं और वे जिसके पक्ष में नहीं होते हैं उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। इस प्रकार दलबन्दी के कारण उनमें पक्षपात का प्रभाव व्याप्त दिखाई देता है और राजनीति को एक प्रकार का व्यवसाय बनाने की प्रवृत्ति पाई जाती है।[3] गणराज्यों में अध्यक्ष पद पैतृक अधिकार पर अविलम्बित न था। अध्यक्ष पद के लिये निर्वाचन होता था जो राजनीतिक दलबन्दी के अधार पर होता था।[4] डा० अल्तेकर के शब्दों में "दलबन्दी का कारण

---

1. *शा० प० : अध्याय 81, श्लोक : 21-25।*
2. *घोषाल, यू०एन० : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आईडियाज, पृष्ठ-8*
   डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतंत्र, पृष्ठ 3।
3. *डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतंत्र, पृष्ठ 92।*
4. *डा० श्यामलाल पाण्डेय : जनतंत्रवाद, पृष्ठ 287।*

प्रायः सदस्यों की आपसी ईर्ष्या और अधिकार लोलुपता थी।'' आजकल की भांति उस प्राचीन काल में भी संघ के सदस्य अधिकार प्राप्ति के लिये गुट बनाया करते थे। दौड़धूप करने वाले गुटबन्दी में निपुण और भाषणपटु व्यक्ति अधिकार प्राप्ति में सफल सिद्ध होते थे। जब दलों की शक्ति बराबर-बराबर रहती थी तो छोटे-छोटे गुटों को सरकार को बनाने और बिगाड़ने का अवसर मिल जाता था। कुछ लोग अपनी दुष्टता के कारण ही प्रभावशाली बन जाते थे, पक्ष और विपक्ष सभी उनसे भयभीत रहते थे। अन्धक-वृष्णि-संघ में आहुक और अक्रूर इसी प्रकार के महानुभाव थे। आजकल की भांति उस समय भी सत्ता रूढ़ दल को खिसकाना कठिन कार्य था।[1] इसलिये बुद्ध और नारद गणराज्यों में झगड़ों से बचने का उपदेश देते हुये उपाय बताते हैं।

दलों में उग्र मतभेद होने के कारण निरन्तर संघर्ष होता रहता था। यह दल संघ के मुख्य पर आक्षेप करते थे।[2] गणतंत्र की सभा में सभासदों को भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता होती थी वे अपने अध्यक्ष की कटु आलोचना कर सकते थे। फलस्वरूप गणतंत्र राज्यों में शासक कभी उदासीन नहीं हो सकता था।[3] इसलिये गणराज्यों में संघ मुख्यों के लिये यह आवश्यक था कि वे प्रजा के हित का ध्यान रखें।

विविध विषयों पर व्यक्त विचार-

दूत-पद की महत्ता एवं उपयोगिता के कारण प्राचीन राज शास्त्र विद्वानों ने इस पद हेतु उत्कृष्ट गुणों का निर्धारण किया है। कृष्ण के अनुसार शांति दूत का स्तर बहुत गौरवपूर्ण होता है। उनके विचारानुसार शांति दूत का एक विशेष व्यक्तित्व, विशेष उत्तरदायित्व और विशेष स्थिति होती है जिसमें वह पूर्ण निष्पक्षतापूर्वक उभय पक्ष के हितों के अनुसार कार्य करके शांति की पहल करें। कृष्ण दूत के गुणों पर प्रकाश डालते हुये कहते

---

1. *डा० ए० एस० अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ 93।*
2. *सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृष्ठ 84।*
3. *डा० देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतंत्र, पृष्ठ 91।*

हैं कि दूत को धर्मशील, कुलीन, सुचिसम्पन्न तथा सावधान नितान्त आवश्यक है।[1] दूत इतना योग्य एवं गुण सम्पन्न हो कि वह देश काल के अनुसार स्वामी हित हेतु शीघ्रतापूर्वक उचित निर्णय लेते हुये प्रिय एवं मधुर वचनों द्वारा दूसरे राजा को प्रसन्न एवं संतुष्ट कर अपनी कार्य सिद्धि में सफल हो जाये।[2] वह विपक्ष की गुप्त बातों अथवा मनोभावों को भलीभांति समझ सके और प्रभावशाली व्यक्तित्व के द्वारा परराष्ट्र में अपने राज्य की प्रतिष्ठा को बनाये रखे। दूत का कुलीन होना इसलिये आवश्यक है कि कुलीन मनुष्य में शालीनता विद्यमान रहती है। उसे शील सम्पन्न एवं सावधान रहना इसलिये आवश्यक है कि परराष्ट्र में बहुत अधिक आदर सम्मान द्वारा उसे भ्रष्ट किये जाने की संभावना रहती है। दूत को आवश्यकतानुसार प्रायः सभी कार्यों में नियुक्त किया जा सकता था। परन्तु दूत को मुख्यतः राजनीतिक एवं कूटनीतिक कार्यों का सम्पादन करना पड़ता था। सन्देश-वाहक होने के कारण दूत का मुख्य कार्य था-अपने स्वामी के सन्देश को यथावत् दूसरे राजा के सम्मुख प्रस्तुत करना।[3] सन्देश चाहे मधुर हो अथवा कटु, दूत उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना निर्भीकतापूर्वक कहे। कौरवों के दूत ने बनवासी पाण्डवों के कटु प्रत्युत्तर को बिना किसी भय के सुना और दुर्योधन को अवगत कराया।[4] संधि एवं विग्रह कराने का कार्य दूत का ही था। संधि आदि कार्य में असफल होने पर दूत उत्साहहीन न हो वरन लक्ष्य प्राप्ति हेतु सदैव प्रयत्नशील रहे। पाण्डवों के दूत श्रीकृष्ण दोनों पक्षों में हर सम्भव उपाय का आश्रय ले अन्तिम समय तक कौरवों पाण्डवों में सन्धि कराने का प्रयत्न करते रहे। श्रीकृष्ण अत्यन्त मार्मिक शब्दों में कहते है-"यदि मैं कौरवों-पाण्डवों के मध्य संधि कराने में सफल हो सका तो मेरे द्वारा यह परम पवित्र और महान कार्य सम्पन्न हो जायेगा।[5]"

---

1. *आज्ञायमाने च मते परस्य*
   किं स्यात् समारभ्यतमं मतं व ।
   तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
   शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः।। उद्योग पर्व : अध्याय 1, श्लोक : 24।
2. *महाभारत : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ 2042*
3. *शा० प० : अध्याय 85, श्लोक : 28।*
4. *वन पर्व : अध्याय 256, श्लोक 15-18।*
5. *उद्योग पर्व : अध्याय 29, श्लोक 18।*

दूत को चाहिये कि परराज्य में वह सदा सावधान रहे। राजा द्वारा प्रदत्त पुरुष्कार, स्वागत-सत्कार आदि से दूत कदापि प्रभावित न हो। जिस प्रकार कृष्ण ने दूत के रूप में आचरण किया उससे दूत के आचार-व्यवहार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कौरवों ने जब पाण्डवों के दूत कृष्ण को भोजन हेतु आमंत्रित किया तब उन्होंने उनके प्रस्ताव नम्रतापूर्वक ठुकराते हुये कहा था कि ''दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होने पर भोजन और सम्मान ग्रहण करते हैं, अतः कार्य सिद्धि होने पर ही मैं सत्कार ग्रहण करूंगा।[1] शांति दूत को इस प्रकार अपनी निष्पक्षता प्रदर्शित करनी चाहिये। इसीलिये उन्होंने कहा मैं आपका भोजन नहीं कर सकता क्योंकि मैं दूत बन कर आया हूं। दुर्योधन ने फिर कहा आपके साथ न हमारी कोई लड़ाई है और न कोई बैर है, हम तो आपके सम्बन्धी हैं इसलिये भोजन के लिये कहा है। इस पर कृष्ण ने यह विचार प्रस्तुत किया जो प्रत्येक शांति दूत के लिये महत्वपूर्ण है। भोजन तो प्रेमियों के यहां किया जाता है या विपत्ति के समय किया जाता है। न तो आपने मुझे प्रसन्न करने का कोई काम किया है, न ही मैं कोई विपत्ति में हूं।[2] इस प्रकार दूत परराज्य में बहुत ही सावधान रहकर वहां की आन्तरिक बातों का जानने का प्रयत्न करते थे, राजा की अप्रत्याशित नीति के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करते थे और उन सभी कार्यों का सम्पादन करते थे, जिसमें उसके स्वामी का हित तथा राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ने की संभावना होती थी।

कृष्ण के अनुसार शांतिदूत का यह महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है कि वह बहुत अधिक त्याग करके कभी किसी भी दशा में संधि की इच्छा न रखे।[3] शांतिदूत विशिष्ट अवसरों पर ही प्रेषित न किये जाये बल्कि दूसरों राज्यों से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये उन राज्यों में अपने दूत रखना अनिवार्य राजनैतिक विचार बताया गया है। राजा के दूत को कुलीन, शीलवान, वाचाल, चतुर, प्रियवचन बोलने वाला, संदेश का ज्यों का त्यों कह देने वाला, स्मरणशक्ति से सम्पन्न-इस प्रकार सात गुणों से युक्त होना चाहिये। राजा कभी किसी आपत्ति

---

1. *कृतार्था भुज्जते दूताः पूजां गृह्यन्ति चैव ह।*
   कृतार्थो मां सहामात्यं समर्चिष्यन्ति भारत।। उद्योग पर्व : अध्याय 91, श्लोक 18।
2. *प्राणनाथ वानप्रस्थी : श्रीकृष्ण, पृष्ठ-39।*
3. *महाभारत : सम्पा0 हनुमान् प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ 2448।*

में भी किसी दूत की हत्या न करे।[1] दूत सुरक्षा हेतु नियम निर्धारित थे। क्षात्र-धर्म में रत जो राजा सत्यवादी दूत का बध करता है उसके पितर भ्रूण-हत्या के भागी होते हैं।[2] राजा द्रुपद अपने पुरोहित को कौरवों के पास दूत बनाकर भेजने के अवसर पर कहते हैं-आप तो दूत कर्म में नियुक्त हैं, अतः आपकों कौरव राज्य में किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिये।[3] दुर्योधन के दूत उलूक के कटु बचनों को सुनकर जब पाण्डव अत्यधिक क्रोधित होकर उसे दण्ड देने को उद्यत हुये, तब कृष्ण पाण्डवों को समझाते हैं "तुम्हें उलूक के प्रति कठोर वचन नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह तो दौत कर्म में स्वामी की यथार्थ बातों को कहने वाला व्यक्ति है।[4]

दूत की रक्षा करना, उसका यथेष्ठ आदर-सम्मान करना और उसके प्रति हिंसा या शक्ति का प्रयोग न करना तत्कालीन भारत में सर्वमान्य नियम रहा है। समय-समय पर निर्धारित राष्ट्रीय एवं अर्न्तराष्ट्रीय नियमों में भी यही कहा गया है कि दूत अवध्य है, उसे बन्दी न बनाया जाये, उसका माल जब्त न किया जाये और उसको सभी प्रकार की क्षति एवं अपकारों से सुरक्षित रखा जाये, क्योंकि दूत का शरीर पवित्र होता है। 1708 ई0 के ब्रिटिश कानून के अनुसार किसी राजदूत को बन्दी बनाने या उसका माल जब्त करने की सब आज्ञायें अवैद्य होती हैं। "रिपब्लिक बनाम् लौंगचैम्पस" के मामले में यह कहा गया है-"राजदूत का शरीर पवित्र और अवध्य होता है।" इनके प्रति की गयी हिंसा न केवल उस प्रभु या राजा का अपमान है, जिसका प्रतिनिधित्व वह दूत कर रहा है, अपितु इससे राष्ट्रों की सामान्य सुरक्षा और कल्याण को भी हानि पहुंचती है। "पैलवी" के विवाद में दिये गये निर्णय के अनुसार "राजदूत को सब प्रकार की क्षतियों तथा अपकारों से सुरक्षित रखना चाहिये। हमारे देश के

---

1. *कुलीनः शील सम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।*
   यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणै।। शा0 प0 : अध्याय 85, श्लोक : 28।
2. *शा0 प0 : अध्याय 85, श्लोक : 26-27।*
3. *उद्योग पर्व : अध्याय 6, श्लोक 16।*
4. *उद्योग पर्व : अध्याय 162, श्लोक 39।*

दूत को हानि पहुंचाना कदापि वैद्य नहीं है।''[1] विद्वान वेदालंकार ने विभिन्न देशों के कानूनो और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के उदाहरण देते हुये यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारत के नियमों को ही 1708 ई० के ब्रिटिश कानून में प्रतिष्ठित किया गया है और ''रिपब्लिक बनाम लौगचैम्पस'' एवं ''पैलवी'' के मामलों के निर्णय से भी इन नियमों का पर्याप्त समर्थन मिलता है।[2] इस प्रकार हमें गर्व है कि प्रचीन भारत में प्रचलित नियमों की महत्ता और उपयोगिता को मानते हुये वर्तमान काल में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में इन्हें सम्मिलित किया गया है।

संधि के तीन भेद हैं-उत्तम, मध्यम और अधम इनकी क्रमशः वित्त संधि, सत्कार संधि और भय संधि-ये तीन संज्ञायें हैं। धन लेकर जो संधि की जाती है वह वित्त संधि उत्तम है। सत्कार पारक की हुयी संधि मध्यम है, और भय के कारण की जाने वाली संधि अधम मानी गयी है।[3] अपनी हीनता या निर्बलता का पता शत्रु को लगने से पहले ही शत्रु के साथ संधि कर लेनी चाहिये। यदि इस संधि के द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध करने की इच्छा हो तो विद्वान एवं बुद्धिमान राजा को इस कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिये। जो गुणवान, महान उत्साही, धर्मज्ञ और साधुपुरुष हों उन्हें सहयोगी बनाकर धर्मपूर्वक राष्ट्र की रक्षा करने वाला नरेश बलवान राजाओं के साथ संधि स्थापित करे।[4] यदि विजय की इच्छा से आक्रमण करने वाला राजा बाहर का हो, उसका आचार-विचार शुद्ध तथा वह धर्म और अर्थ के साधन में कुशल हो तो शीघ्रतापूर्वक उसके साथ संधि कर लेनी चाहिये और जो ग्राम तथा नगर अपने पूर्वजों के अधिकार में रहे हों, वे यदि आक्रमणकारी के हांथ में चले गये हों तो उसे मधुर वचनों द्वारा समझा बुझाकर उसके हांथ से छुड़ाने की चेष्टा करें। जो विजय चाहने वाला शत्रु अधर्म परायण हो तथा बलवान होने के साथ ही पापपूर्ण विचार रखता हो उसके

---

1. *हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृष्ठ-242, मसूरी (1961)।*
2. *हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृष्ठ-242, मसूरी (1961)।*
3. *शा० प० : अध्याय 59, श्लोक : 37।*
4. *अज्ञायमाने हीनत्वे संधिं कुर्यात् परेण वै।*
   लिप्सुर्वा कंचिदेवार्थे त्वरमाणो विचक्षणः।। शा० प० : अध्याय 69, श्लोक : 15 एवं 16।

साथ अपना कुछ खोकर भी संधि कर लेने की ही इच्छा रखें। आवश्यकता हो तो अपनी राजधानी को छोड़कर बहुत सा द्रव्य देकर उस विपत्ति से पार हो जाये।[1] समयानुसार शत्रु के साथ संधि और मित्र के साथ भी युद्ध करना उचित है।[2] जब किसी से बैर बंध जाये तो उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से बैर की आग बुझती नहीं, वह विश्वास करने वाला मूर्ख शीघ्र ही मारा जाता है। इसलिये जब आपस में बैर हो जाये तो संधि करना ठीक नहीं होता।[3] शत्रु के साथ किये जाने वाले समझौते आदि कार्य में संधि करके भी उस पर विश्वास न करें, अपना काम बना लेने पर बुद्धिमान पुरुष शीघ्र ही वहां से हट जायें।[4]

संधि वार्ता टूटने पर, अत्याचार व अन्याय के विरोध में, अधिकारों की रक्षा में एवं जनता के कल्याण में युद्ध करना उचित है। जब कोई क्रूर मनुष्य धन-संपत्ति में लालच रखकर उसे ले लेने की इच्छा रखता है और विधाता के कोप से सेना संग्रह करने लगता है उस समय राजाओं में युद्ध का अवसर उपिस्थित होता है।[5] शत्रुओं पर चढ़ाई करने के चार अवसर हैं-1. अपने मित्रों की वृद्धि 2. अपने कोष का भरपूर संग्रह 3. शत्रु के मित्रों का नाश 4. शत्रु के कोष की हानि।[6]-युद्ध का अभ्यास राजा के लिये अनिवार्य है, जैसे सांप बिल में रहने वाले चूहों को निगल जाता है उसी प्रकार दूसरों से लड़ाई न करने वाले राजा को पृथ्वी निगल जाती है।[7] जो असत्य के मार्ग पर चलने वाले पिता, बाबा, भाई, गुरुजन सम्बन्धी तथा बन्धु बान्धवों को संग्राम में मार डालते हैं उसका वह कार्य धर्म ही है। संग्राम में शत्रु के ललकारने पर क्षत्रिय बन्धु को सदा ही युद्ध के लिये उद्यत रहना चाहिये।[8] वेदान्त का पारंगत

---

1. *बाह्यश्चेद् विजीगीषुः स्याद् धर्मार्थ कुशलः शुचिः।*
   जवेन संधिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान् विमोचयेत्।। शा0 प0 : अध्याय 131, श्लोक : 4 एवं 5, 6।
2. *शा0 प0 : अध्याय 138, श्लोक : 207, 208।*
3. *शा0 प0 : अध्याय 139, श्लोक : 27 एवं 31।*
4. *शा0 प0 : अध्याय 140, श्लोक : 13-14।*
5. *महाभारत : सम्पा0 हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ 2111।*
6. *शा0 प0 : अध्याय 59, श्लोक : 38।*
7. *शा0 प0 : अध्याय 57, श्लोक : 3।*
8. *शा0 प0 : अध्याय 55, श्लोक : 15।*

विद्वान ब्राम्हण ही क्यों न हो यदि वह शस्त्र उठाकर युद्ध में सामना करने के लिये आरहा हो तो धर्म पालन की इच्छा रखने वाले राजा को अपने धर्म के अनुसार ही युद्ध करके उसे कैद कर लेना चाहिये।[1] जिनकी सेनायें मोर्चा बांध कर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान हों ऐसे शत्रुओं के साथ सम्मुख होकर युद्ध नहीं करना चाहिये। यह बुद्धिमानों की नीत है। बलवान के साथ युद्ध छेड़ना कभी अच्छा नहीं माना जाता। यदि छिपे शत्रु के घर तक पहुंच जायें तो यह हमारे लिये कोई निन्दा की बात नहीं होगी।[2] मयावी का वध माया से ही करना चाहिये, यह सच्ची नीति है।[3] कृष्ण का यह विचार था कि युद्ध में जुयें की सी शर्त नहीं लगानी चाहिये जैसा कि युद्ध के समय युधिष्ठिर ने दुर्योधन से लड़ने के लिये किसी भी पाण्डव को चयन करने का प्रस्ताव रख दिया था। एक ही हार जीत से उनकी हार जीत की शर्त लगाकर जो युधिष्ठिर ने इस भयंकर युद्ध को जुयें का दांव बना डाला, यह उनकी बड़ी नासमझी है।[4] जब कोई श्रेष्ठ पुरुष संकट में पड़ जाये तब उस पर प्रहार नहीं करना चाहिये। राजा को राजा के साथ ही युद्ध करना चाहिये।[5] दोनों की ओर की सेनाओं के भिड़ जाने पर यदि उनके बीच संधि कराने की इच्छा से ब्राम्हण आ जाये तो दोनों पक्ष वालों को तत्काल युद्ध बन्द कर देना चाहिये।[6] जो राजा बल द्वारा पराजित कर दिया गया हो उसे कैद करके एक साल तक अनुकूल रहने की शिक्षा दें। एक साल बाद उसे छोड़ देना चाहिये।[7] बलवान पुरुष कभी दुर्बल शत्रु की भी अवहेलना न करे, अर्थात उसे छोटा समझ कर उसकी ओर से लापरवाही न दिखावे क्योंकि आग थोड़ी सी भी हो जला डालती है, और विष कम मात्रा में हो तो भी मार डालता है। चतुरंगिनी सेना से भी सम्पन्न हुआ शत्रु दुर्ग का आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजा के समूचे देश

---

1. *उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।*
   निगृहीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः।। शा० प० : अध्याय 56, श्लोक 29।
2. *राजसूयारम्भ पर्व : अध्याय 17, श्लोक 8।*
3. *महाभारत : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ 4212।*
4. *महाभारत : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ 4221।*
5. *शा० प० : अध्याय 96, श्लोक 7।*
6. *शा० प० : अध्याय 96, श्लोक 8।*
7. *शा० प० : अध्याय 96, श्लोक 4।*

को भी संतप्त कर डालता है।[1] मरने से बचे हुये शत्रुगण यदि वे युद्ध में जान बचाने की इच्छा से भाग गये हों और पुनः युद्ध के लिये लौटने लगे हों तो उनसे डरते रहना चाहिये, क्योंकि वे एक निश्चय पर पहुंचे हुये होते हैं, उस समय वे मृत्यु से भी नहीं डरते।[2] यदि संग्राम में वीर योद्धा अचेत हो जाये तो सारथी का कर्तव्य है कि वह उसकी रक्षा करे और यदि सारथी अचेत हो जाये तो योद्धा का कर्तव्य है कि वह उसकी रक्षा करे।[3] कृष्ण का विचार था कि यदि शत्रु का कोई सहयोगी वचनबद्ध अथवा किसी प्रकार की कोई प्रतिज्ञा किये हुये है तो उसके मित्र बनने पर उसकी प्रतिज्ञा का आदर करना चाहिये न कि उसे भंग करने का प्रयास। कृष्ण वरुण से गउवों को प्राप्त करना चाहते थे। वरुण की विनती पर कृष्ण ने उसकी प्रतिज्ञा का आदर किया। मेरे धर्म का लोप न हो..........मुझे प्रतिज्ञा भंग के पाप से संयुक्त न कीजिये. ....मैं जीते जी इन गउवों को नहीं दूंगा। आप मेरा वध करके इन्हें ले जाइये. ....श्री कृष्ण ने उनकी इस प्रतिज्ञा को अभेध मानकर गउवों के लिये विवाद त्याग दिया.................यदि आपने वाणासुर के साथ ऐसी प्रतिज्ञा कर ली है तो आप इस कलह से मुक्त है।[4] इस प्रकार कृष्ण ने स्वधर्म को बहुत ऊंचा गौरव दिया है।[5]

राजा को सभी प्रकार के व्यसनों को त्याग देना चाहिये। संसार में स्त्री, जुआं खेलना, आखेट और मदिरापान इन चार दुर्व्यसनों से अनुराग रखने से चार प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं।[6]. पान, जुआं, स्त्री, शिकार तथा गाना-बजाना इन सब का संयमपूर्वक अनाशक्त भाव से सेवन करें क्योंकि इनमें आसक्ति होना अनिष्टकारक है।[7] अपरिचित स्त्रियों, बांझ स्त्रियों, वैश्याओं, परायी स्त्रियों तथा कुंवारी अल्पायु कन्याओं के साथ राजा मैथुन न

---

1. *शा० प० : अध्याय 85, श्लोक : 7 से 18।*
2. *महाभारत : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ 4296।*
3. *चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : महाभारत वन पर्व, पृष्ठ 72।*
4. *महाभारत : सम्पा० हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ 742।*
5. *डा० एन० के० देवराज : भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 63।*
6. *चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत, पृष्ठ 59।*
7. *पानमेक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम्।*
   एताति युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान्।। शा० प० : अध्याय 140, श्लोक : 26।

करे।[8] संभवतः इन सब के निषेध का प्रमुख कारण प्राचीन काल से ही भारत में शत्रु की हत्या के लिये विष कन्याओं का प्रयोग है। ये अपार रूप की स्वामिनी होती थीं। इन्हें बालपन से ही विष का सेवन कराया जाता था। पहले थोड़ा-थोड़ा तत्पश्चात अधिक मात्रा में बारह-तेरह वर्ष की आयु में उन्हें नागिन से कटवाया जाता था इससे वे पूर्णतयः विषयुक्त हो जाती थी, जिससे वे किसी व्यक्ति को अपने श्वांस की गंध मात्र से मारने में समर्थ होती थीं। विष तथा विष कन्याओं का प्रयोग आपातकाल में काफी सोंच समझकर अन्तिम अस्त्र के रूप में किया जाता था क्योंकि यह एक निन्दनीय और घृणित कृत्य माना गया है। अपने शत्रु से छुटकारा पाने के लिये विष कन्याओं का उपयोग एक महत्वपूर्ण नयी खोज है और उसके उदाहरण प्राचीन काल में किसी अन्य पश्चिमी और पूर्वी देशों के इतिहास में नहीं मिलते।

---

8. *अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु।*
परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृपः।। शा० प० : अध्याय 90, श्लोक : 33।

अध्याय षष्ठम्

।। महाभारत के युद्ध के सन्दर्भ में व्यक्त विचार ।।

अध्याय षष्ठम्

।। महाभारत के युद्ध के सन्दर्भ में व्यक्त विचार ।।

प्राचीन भारतीय राजनीति में साम, दाम, भेद आदि राजनयिक उपायों से पारस्परिक विवाद का उचित निर्णय न होने पर युद्ध को लक्ष्य प्राप्ति का यथेष्ट साधन माना गया है। युद्ध की अनिवार्यता के कारण ही हमारे प्राचीन विचारकों ने चतुरुपाय में 'दण्ड' और षाडगुण्य में 'विग्रह' को स्थान पैदा करके इसके महत्व को मान्यता दी है। युद्ध एक अनिवार्य अभिशाप ही है, फिर भी संसार में सदा से ही इसका घोर विरोध होने पर भी युद्ध होते रहे हैं, क्योंकि संघर्ष अर्थात् युद्ध की प्रवृत्ति मानव-स्वाभाव में ही विद्यमान है। इसी भावना से प्रेरित हो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध और एक मानव दूसरे मानव के विरुद्ध लड़ते आये हैं। युद्ध अनेक कारणों से होते आये हैं, कहीं सार्वभौम बनने के लिये, कहीं साम्राज्य स्थापित करने के लिये, कहीं धन-सम्पत्ति के लिये, कहीं धर्म के लिये, कहीं मान-प्रतिष्ठा के लिये, कहीं स्त्री के लिये आदि। कौरवों-पाण्डवों का संग्राम धर्मयुद्ध ही था, क्योंकि यह युद्ध पापियों, दुष्टों एवं अत्याचारियों का विनाश करने और धर्म की स्थापना के लिये लड़ा गया था। इसके विपरीत संसार के अन्य देशों में प्रायः सभी युद्ध अपने राज्य का विस्तार करने, दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने, धन-धान्य लूटने और अपने धर्म (सम्प्रदाय)-संस्कृति को दूसरों पर थोपने हेतु ही किये गये हैं।

युद्ध का औचित्य :

युद्ध को विनाशकारी बताये हुये युधिष्ठिर इसकी भर्त्सना करते हुये कहते हैं कि क्षात्र-धर्म से बढ़कर अन्य कोई पापपूर्ण धर्म नहीं है, क्योंकि युद्ध के द्वारा महान जनसंहार होता है। युधिष्ठिर की इस शंका के समाधान हेतु आचार्य भीष्म ने युद्ध के औचित्य के सन्दर्भ में प्रकाश डाला। जैसे खेत की निराई करते समय कृषक घास आदि अनावश्यक सामग्री के साथ कितने ही धन क पौधे उखाड़ फेंकता है, तो भी धान नष्ट नहीं होता। उसी प्रकार युद्ध में किये जाने वाले नरसंहार से राजा को पाप नहीं लगता, क्योंकि विजयोपरान्त प्रजा हित कार्यों को सम्पादित कर उनकी सर्वांगीण उन्नति करके वह अपने पाप का प्रायश्चित कर लेता है, पापियों को दण्ड देने, सत्पुरुषों को आदरपूर्वक अपनाने, यज्ञों का अनुष्ठान करने, दान आदि पुण्य कर्मों द्वारा वह सभी दोषों से मुक्त हो सर्वथा शुद्ध हो जाता है। समरांगण में बहने वाले रक्त से उसके समस्त पाप धुल जाते हैं। अतः युद्ध में होने वाले संहार से राजा को किसी प्रकार का पाप नहीं लगता।[1]

अन्यत्र भी शोक-संतप्त युधिष्ठिर द्वारा स्वार्थपूर्ति या राज्य प्राप्ति के लिये लोभवश अपने ही परिवार के प्रिय सदस्यों, मित्रों और बहुसंख्यक क्षत्रियों का वध अन्यन्त घृणित और पापपूर्ण कृत्य समझने पर कृष्ण उन्हें उपदेश देते हैं कि राज्य या यश प्राप्ति के लिये किये युद्ध में अपने परिवार के सदस्यों का वध करना क्षत्रिय का धर्म है। सभी प्राणी अपनी ही मौत मरते हैं। युद्ध तो निमित्त मात्र है। प्राणियों द्वारा प्राणियों का वध युद्ध का ईश्वरीय रूप है, ईश्वर का भी कोई दोष नहीं है, वह तो कर्म के अनुसार ही फल देता है। सारा जगत् कालयुक्त कर्म की प्रेरणा से सचेष्ट हो रहा है। सब कुछ देव इच्छा से ही चल रहा है। जब मनुष्य का जन्म-मरण स्वाभाविक बात है, तब उसके लिये हर्ष या विषाद करना वृथा

---

1. *क्षत्रधर्माद्धि पापीयान्न धमोऽस्ति नराधिप।*
   अपयानेन युद्धेन राजा हन्ति महाजनम्।। शा० प० : अध्याय 97, श्लोक 1 एवं 2 से 8।
   स सर्वयज्ञैरीजानो राजाथभदक्षिणै।
   अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम्।। शा० प० : अध्याय 97, श्लोक 9।

ही है। अतः क्षत्रिय धर्म का स्मरण करते हुये युद्ध में किसी के वध किये जाने पर राजा दोषी नहीं होता। एक कुल के लिये एक व्यक्ति का तथा राज्य के हित के लिये एक कुल का संहार करना उचित है। इसमें धर्म का नाश नहीं होता, यही राजा का कर्त्तव्य है।[1] आचार्य कणिक भी राजा को निर्भयतापूर्वक युद्ध करने का आदेश देते हैं कि जब तक भय अपने ऊपर न आया हो, उसे टालने का प्रयत्न करे, परन्तु भय उपस्थित होने पर निडरतापूर्वक सामना करे। मछलीमारों की भांति दूसरों का मर्म विदीर्ण किये बिना राजा आत्मरक्षा, राज्य और अतुल सम्पत्ति की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकता।[2] उद्योगपर्व में भी युधिष्ठिर द्वारा युद्ध को पाप का मूल कहे जाने पर कृष्ण युद्ध का औचित्य बताते हुये कहते हैं कि दीनता अथवा कायरता क्षत्रिय के लिये प्रशंसा की वस्तु नहीं है। संग्राम में विजयी होना अथवा प्राणोत्सर्ग करना ही उनके लिये विधाता द्वारा निर्धारित विधान है।[3] राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजाहित और प्रजाकल्याण में सदैव प्रयत्नशील रहना है। इस कार्य के सम्पादन में अनैतिक, अधार्मिक और दुष्प्रवृत्ति के लोगों का दमन भी अनिवार्य है। इसीलिये राजा द्वारा इनका वध करना सर्वथा न्यायोचित है। कृष्ण का स्पष्ट मत है कि जो धर्म का विनाश चाहते हुये अधर्म के प्रवर्तक हो रहे हों, उन दुरात्माओं का वध करना ही उचित है।[4] और शत्रु की उपेक्षा न करते हुये उनका वध करना ही हितकर है। शत्रु एवं दुष्टों के प्रति कभी कोमलता नहीं दिखाई जानी चाहिये। विषैले सर्प की भांति समझते हुये उनका वध करना ही श्रेयष्कर है, अन्यथा विशाल वन में छोड़ी हुयी अल्पअग्नि की भांति वे भी विनाशकारी बन जाते हैं। इसीलिये कृष्ण कहते हैं कि दुर्बल से दुर्बल शुत्र की अवहेलना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अल्प अग्नि एवं अल्प विष मनुष्य को मार डालने मे समर्थ होते हैं।[5] अतः शत्रु के प्रति थोड़ी सी भी असावधानी नहीं बरतनी चाहिये, वह तो इसका लाभ उठाकर बाज पक्षी की भांति टूट पड़ता है। शत्रु का

1. *शा० प० : अध्याय 33, श्लोक 14-23 एवं 31।*
2. *आदि पर्व : अध्याय 139, श्लोक 77 एवं 82।*
3. *जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः।*
   स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते।। उद्योग पर्व : अध्याय 73, श्लोक 4।
4. *शा० प० : अध्याय 33, श्लोक 30।*
5. *शा० प० : अध्याय 58, श्लोक 17।*

वध करना धर्म है। युद्ध धर्म का पालन तो तप है, यज्ञ है और सनातन धर्म है। युद्ध में मृत्यु होने से स्वर्ग की और जीवित रहकर शत्रु वध के यज्ञ की प्राप्ति होती है। दोनों ही प्रकार से युद्ध लाभदायक है, इसमें निष्फलता तो है ही नहीं।[1] इसीलिये विशेष रूप से धर्म की इच्छा रखने वाले राजा को सदा युद्ध के लिये उद्यत रहना चाहिये (तस्माद् राजा विशेषण यौ द्रव्यं धर्मपीप्सता)।[2]

युद्ध-क्षत्रिय का धर्मः-

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज चार वर्णों-ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-में विभक्त हो गया था और प्रत्येक वर्ण के लिये भिन्न-भिन्न कार्य निश्चित कर दिये गये थे ताकि सभी लोग स्वधर्म का पालन करते हुये राष्ट्र को उन्नति और समृद्धि के मार्ग पर चलाते रहें। इन चारो वर्णों में क्षत्रिय का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान था क्योंकि अन्य वर्णों की रक्षा का भार उसी पर था। इसके साथ-साथ क्षत्रिय के अन्य धर्म थे-राज्य में स्थिरता और शान्ति की स्थापना करना, राज्य की शत्रुओं से रक्षा करना और समय आने पर शत्रु से युद्ध करके उनका समूल नाश करना। अतः राज्य की स्थिरता, उन्नति, समृद्धि और सुख-शान्ति क्षत्रिय पर ही निर्भर थी। इसीलिये कृष्ण ने युद्ध करना क्षत्रिय का परम धर्म और पुनीत कर्त्तव्य माना है।[3]

कृष्ण का स्पष्ट मत है कि जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राम्हण का धर्म है, उसी प्रकार समरभूमि में युद्ध करके शत्रुओं को मार गिराना क्षत्रिय का धर्म है। संग्राम में शत्रु के ललकारने पर क्षत्रियों को सदा युद्ध के लिये उद्यत रहना चाहिये, क्योंकि युद्ध क्षत्रिय के लिये धर्म का पोषक, स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला और लोक में यश फैलाने वाला है।[4] युद्ध के लिये

---

1. *स्त्री पर्व : अध्याय 2, श्लोक 14।*
2. *दानंमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।*
   तस्माद् राज्ञां विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता।। शा0 प0 : अध्याय 60, श्लोक 18।
3. *कर्ण प0 : अध्याय 28, श्लोक 44।*
   शा0 प0 : अध्याय 10, श्लोक 19।
   वन प0 : अध्याय 207, श्लोक 25।
4. *शा0 प0 : अध्याय 55, श्लोक 14 एवं 19।*

ही क्षत्रिय की उत्पत्ति हुयी है। क्षात्र-धर्म में तत्पर रहते हुये क्षत्रियों को अपने इस धर्म का पालन करने रहना चाहिये। उसके लिये युद्ध धर्म का विधान तो विधाता द्वारा निर्धारित विधान है। युद्ध क्षत्रिय के लिये सबसे बड़ा धर्म है। अतः धर्म की इच्छा रखने वाले राजा को सदा युद्ध में तत्पर रहना चाहिये। युद्ध में अपने शरीर की आहुति देना अर्थात् अपने को न्योछावर करना क्षत्रिय का श्रेष्ठतम धर्म है। उसे युद्ध में विजय प्राप्त करके ही लौटना चाहिये। उसे किसी भी अवस्था में युद्ध में पीठ नहीं दिखाना चाहिये।[1]

कृष्ण के अनुसार आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना, युद्ध से जी चुराना, खाट पर सोकर मरना, शरीर पर बिना घाव लिये ही समरभूमि से लौटना आदि क्षत्रिय के लिये निन्दनीय कार्य है।[2] जो क्षत्रिय कायर और नपुंसक है, वह पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता, और न उसे भोग ही सकता। इसी प्रकार जो क्षत्रिय दण्ड देने की शक्ति नहीं रखता, उसकी शोभा नहीं होती। दण्ड न देने वाला राजा इस पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। राजा का तो यही परम धर्म है कि वह दुष्टों को दण्ड दे, सत्पुरुषों का पालन करे और युद्ध में कभी पीठ न दिखावे।[3] वीर अभिमन्यु के वाणों से व्याकुल हुआ कर्ण इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुये कहते हैं-मैं उनके वाणों से पीड़ित हुआ रणभूमि में इसीलिये खड़ा हूं क्योंकि समरभूमि में डटे रहना ही क्षत्रिय का धर्म है।[4] इस कथन से सहमत होते हुये स्मृतिकार मनु कहते हैं कि युद्ध के अवसर पर क्षात्र-धर्म का स्मरण करते हुये युद्ध से मुख न मोड़ना और युद्ध में पीठ न दिखाते हुये वीरतापूर्वक लड़ना ही राजा के लिये श्रेयष्कर है।[5]

---

1. *कथं तस्मात् समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्चयाः।*
   तदेव निन्दां भाषेयुर्धाता तत्र न गर्ह्यते ।। शा० प० : अध्याय 10, श्लोक 19।
   शा० प० : अध्याय 64, श्लोक 27।
   शा० प० : अध्याय 64, श्लोक 16।
2. *शल्य पर्व : अध्याय 5, श्लोक 32।*
   शा० प० : अध्याय 97, श्लोक 25।
3. *शा० प० : अध्याय 14, श्लोक 13, 14 एवं 16।*
4. *द्रोण पर्व : अध्याय 48, श्लोक 24।*
5. *मनुस्मृति : 7/87, 88।*

कृष्ण और जरासन्ध संवाद में कृष्ण ने जरासन्ध से कारावास में बन्दी बनाये हुये दूसरे राजाओं को मुक्त करने को कहा लेकिन अभिमानी राजा जरासन्ध ने कृष्ण से कहा कि देवताओं को बलि देने के लिये उपहार रूप में विजय प्राप्त कर के लाये हुये इन राजाओं को आपके भय से नहीं छोड़ सकता हूँ। कृष्ण ने जरासन्ध से कहा कि "वेदाध्ययन स्वर्ग प्राप्ति का कारण है, परोपकार रूप महान यश भी स्वर्ग का हेतु है, तपस्या को भी स्वर्ग लोक का साधन बताया गया है, परन्तु क्षत्रियों के लिये इन तीनों की अपेक्षा युद्ध में मृत्यु का कारण ही स्वर्ग प्राप्ति का अमोघ कारण है।" क्षत्रिय का युद्ध में मरण सर्वश्रेष्ठ धर्म माना जाता है। युद्ध में तत्पर रहने वाला राजा क्षत्रिय यदि संग्राम भूमि में यदि शत्रु के सम्मुख जूझते हुये प्राणों का परित्याग कर दे तो वह इहलोक और परलोक में निर्मल कीर्ति का भागी होता है।

इससे स्पष्ट है कि युद्ध हेतु सदैव तत्पर रहना, युद्ध में जी-जान से पराक्रम दिखाना, रण स्थल से पीठ दिखाकर न भागना और युद्ध करते हुये प्राणों का बलिदान करना क्षत्रिय का परमधर्म और सर्वोपरि कर्त्तव्य है। युद्ध के द्वारा ही राजा इहलोह में यज्ञ तथा परलोक में सुख भोगता है। युद्ध से ही वह धन, वैभव, यश आदि की प्राप्ति करके दीर्घकाल तक राज्य सुख भोगने में सफल होता है।

युद्ध की पृष्ठभूमि में व्यक्त विचार :-

कृष्ण ने महाभारत के युद्ध की पृष्ठभूमि में अनेक राजनीतिक विचार अभिव्यक्त किये हैं। वे इस युद्ध को अनिवार्य मानते थे क्योंकि उनके अनुसार न्याय और सत्य की पुर्नस्थापना अत्याचारियों व अन्यायियों को दण्ड दिये बिना संभव नहीं और यह दण्ड विधान महासमर के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र निर्धारित नहीं किया जा सकता था क्यों कि अन्याय और अत्याचार के भागीदार एक दो व्यक्ति नहीं बल्कि विशाल समूह था जिसमें तत्कालीन राजतंत्रों

के दुगुर्ण भी सम्मिलित होकर अनाचार के उन्मूलन को बाध्य कर रहे थे। कौरवों के अनवरत क्रमिक अत्याचारों तथा गैरक्षत्रियोचित रूप से पाण्डवों के विकासशील राज्य का अपहरण युद्ध की अनिवार्यता के आधार थे। कृष्ण जानते समझते थे कि एक बार अन्तिम निर्णय के बिना कौरव,पांडवों को पूर्व कुचक्रों की भांति उनके अधिकार से वंचित करते रहेंगे । अतःऐसी स्थिति को युद्ध ही तय कर सकता है। इसीलिये कृष्ण ने पांडवों पर लगे प्रतिबन्ध की समाप्ति पर ही इस रूप में अपने राजनीतिक आदर्शों को प्रस्तुत किया जिसमें पांडवों को युद्ध करने के लिये, कुछ करने के लिये, कुछ सोचने और कुछ निर्णय लेने के लिये उद्यत होना पड़ा। उन्होंने विवाहोत्सव में निमंत्रित सभी राजाओं की एक सभा संगठित करने का अवसर प्राप्त करके पाण्डवों के पक्ष को प्रभावपूर्ण शब्दों में रखा आप सब लोगों को यह विदित ही है कि सबल पुत्र शकुति ने पूत सभा में किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिर को परास्त किया और उनका राज्य छीन लिया उस जुयें में यह शर्त रखी थी कि जो हारे वह बारह वर्षों तक बनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करें।[1] पाण्डव सदा सत्य पर आरूढ़ रहे हैं। सत्य ही इनका रथ है (आश्रय) इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डल को जीतने की शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्व पाण्डु कुमारों ने सत्य का ख्याल करके तेरह वर्षों तक बनवास और अज्ञातवास के उस कठोर व्रत का धैर्यपूर्वक पालन किया जिसका स्वरूप बहुत उग्र है। इस तेरहवें वर्ष को पार करना बहुत कठिन था परन्तु इन महात्माओं ने आपके पास ही अज्ञातरूप से रहकर भांति भांति के असत्य क्लेश

---

1. *जितोनिकृत्यापहृतं च राज्यं*
   वन प्रवासे समयः कृत्श्च।। सेनोद्योग पर्व : अध्याय 1, श्लोक : 10।

अपनी कुल परम्पराओं से प्राप्त हुए राज्य की अभिलाषा से ही इन वीरों ने अब तक अज्ञातावस्था में दूसरों की सेवा में संलग्न रहकर तेरह वर्ष पूरे किये हैं। ऐसी परिस्थिति में जिस उपाय से युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधन का भी हित हो उसका आप लोग विचार करें। आप कोई ऐसा मार्ग ढूढ़ निकालें जो इन कुरूश्रेष्ठ वीरों के लिये धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यश की वृद्धि करने वाला हो। धर्मराज युधिष्ठिर यदि धर्म के विरुद्ध देवताओं का भी राज्य प्राप्त हो तो उसे लेना नहीं चाहेंगे ।[1] किसी छोटे से गांव का राज्य भी यदि धर्म और अर्थ के अनुकूल प्राप्त होता है । तो ये उसे लेने की इच्छा कर सकते हैं।आप सभी नरेशों को यह तो विदित है कि घ्रतराष्ट्र के पुत्रों ने पाण्डवों के पैतृक राज्य का किस प्रकार अपहरण किया है।[2] कौरवों के इस मिथ्या व्यवहार तथा छल कपट के कारण पांण्डवों को कितना महान कष्ट भोगना पड़ा यह भी आप लोगों से छिपा नहीं है । घृतराष्ट्र के उन पुत्रों ने अपने बल और पराक्रम से कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर को किसी ने पराजित नहीं किया था (छल से ही पूरा राज्य छीना) तथापि सुहदय सहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते है। पाण्डवों ने दूसरे राजाओं को युद्ध में जीत कर उन्हें पीड़ित करके जो भी धन प्राप्त किया था, उसी को कुती और माद्री के ये पुत्र मांग रहे हैं। जब पाण्डव बालक थे अपना हित अहित कुछ नहीं समझते थे तभी इनके राज्य को हर लेने की इच्छा से उन उग्र प्रकृति के दुष्ट शत्रुओं ने संघबद्ध होकर भांति-भांति के षड़यंत्रों द्वारा इन्हें मार डालने की पूरी चेष्टा की थी, ये सब बातें आप लोग अच्छी तरह जानते होंगे ।[3] अतः सभी सभासद कौरवों के बड़े हुए लोभ को युदिष्ठिर की धर्मज्ञता को तथा इन दोनों के पारम्परिक सम्बन्ध को देखते हुए अलग अलग तथा एक राय

---

1. *शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च*
   सत्ये स्थितै सत्यरथैर्यथावत्
   पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
   वर्षाणि षट् सप्त चीर्णमग्र्यैः।। सेनोद्योग पर्व : अध्याय 1, श्लोक : 11 एवं 12 से 14।
2. *सेनोद्योग पर्व : अध्याय 1, श्लोक : 15।*
3. *मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन*
   कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम्
   न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
   स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः।। सेनोद्योग पर्व : अध्याय 1, श्लोक : 16 एवं 17-18।

से भी कुछ निश्चय करें । ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होने के कारण पहले की हुई प्रतिज्ञा का यथावत पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं। यदि अभी धृराष्ट्र के पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे- इनका राज्य नहीं लौटायेंगे तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे। कौरव लोग पाण्डवों के कार्य में विघ्न डाल रहे है उनकी बुराई पर ही तुले हुये हैं। यह बात निश्चित रूप से जान लेने पर सुहृदयों और सम्बन्धियों को उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवों को इस प्रकार अत्याचार करने से रोकें।[1] यदि धृतराष्ट्र के पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवों को सतायेंगे तो उनके बाध्य करने पर ये भी डटकर युद्ध में उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे। सम्भव है आप लोग सोंचते हो कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होने के कारण उन पर विजय पाने में समर्थ नहीं हैं तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदयों के साथ मिलकर शत्रुओं के विनाश के लिये पाण्डव अल्पसंख्यक होने के कारण उप पर विजय पाने में समर्थ नहीं है तथापिये सब लोग अपने हितैषी सुहृदयों के साथ मिलकर शत्रुओं के विनाश के लिये प्रयत्न तो करेंगे ही। (अतःइन्हें आप लोग निर्बल न समझें) परन्तु युद्ध को भी निश्चय कैसे किया जाये क्योंकि दुर्योधन के मत का अभी ठीक ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा।[2] शत्रुपक्ष का विचार जाने बिना आप लोग कोई ऐसा निश्चय कैसे कर सकते हैं जिसे अवश्य ही कार्य रूप में परिणित किया जा सके । अतः मेरा विचार है कि यहां से कोई धर्मशील, पवित्र आत्मा, कुलीन और सावधान पुरुष वहां दूत बनकर जाये। वह दूत ऐसा होना चाहिये जो उनके जोश तथा रोष को शान्त करने में सफल हो और उन्हें युधिष्ठर को आधा राज्य दे देने के लिये विवश कर सके।[3] इस प्रकार कृष्ण ने पाण्डवों को सत्य, मर्यादाओं और धर्म का पालनकर्ता सिद्ध करके कौरवों को अत्याचारों और अन्यायी घोषित किया जिससे

---

1. *सेनोद्योग पर्व : अध्याय 1, श्लोक : 19-21।*
2. *युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव*
   तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः।
   तथापि नेमेऽल्पतया समर्थाः
   स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः।। सेनोद्योग पर्व : अध्याय 1, श्लोक : 22-23।
3. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 167।*

उपस्थित राजाओं की स्वाभाविक सहानुभूति पाण्डवों के प्रति हो गई। इतना ही नहीं पाण्डवों के तेरह वर्षों के कष्टों का आभास कराके कौरवों को विश्वासघाती, कपटी, छली और षडयंत्रकारी सिद्ध करके उन्होंने शासकों के हृदय पर सीधा प्रभाव डाला। स्थिति का इससे बेहतर और चित्रण क्या हो सकता था कि कृष्ण संभावित युद्ध को पाण्डवों पर लादा हुआ युद्ध घोषित करने की पृष्ठभूमि निर्मित करने में लगे थे। शत्रुपक्ष को कुनीतिकारी, अत्याचारी, हठी और लोभी सिद्ध करके अपने पक्ष को दृढ़ बनाना कृष्ण का एक महत्वपूर्ण विचार था जिसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति युद्ध की पृष्ठभूमि में निभाई गई उनकी भूमिका में निहित है। पाण्डवों के पैतृक राज्य पर कौरवों द्वारा बलात् अधिकार और उसे वापस लेने के प्रयास में पाण्डवों को संभावित युद्ध हर दृष्टि से न्यायोचित सिद्ध करना कृष्ण का असाधारण राजनीतिक विचार था।

पाण्डवों के सहयोगी राजाओं की अहंकारी वृत्ति को तुष्ट करने के लिये ही कृष्ण ने कहा कि हम लोग सुनीति की इच्छा रखने वाले हैं। समय के अनुकूल आचरण पर बल देते हुये उनका कहना था कि जो अवसर के अनुकूल आचरण नहीं करता वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है।[1] इस नीतिज्ञता से कृष्ण ने पाण्डवों के सभी सहयोगियों को बुद्धिमान ओर सुनीति का पक्षधर कहकर उच्च धरातल पर खड़ा कर दिया जिससे वह पाण्डवों के पक्ष को अपना ही पक्ष समझने लगे। न्याय का साथ देने वाले को उन्होंने सनातन धर्म का पालक घोषित करके अद्भुत विचार व्यक्त किया जिससे उपस्थित राजागण ही महिमा मण्डित हुये। जो दूसरे के साथ छल, कपट अथवा धोखा करके सुख भोग रहा हो उसे मार डालना चाहिये, यह सनातन धर्म है।[2] इससे भी अधिक विचार उन्होंने राजनीतिक दृष्टिकोण से निष्पक्षता का दिया जिसके अनुसार उन्होंने स्वयं को सम्मिलित करते हुये सभी उपस्थित नरेशों को तटस्थ घोषित करके उन्हें पाण्डवों के पक्ष को निष्पक्ष विचारने का ही अवसर नहीं दिया बल्कि तटस्थता का लेबिल

---

1. *एतश्च पूर्व कार्ये नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम्।*
   अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः।। सेनोद्योग पर्व : अध्याय 5, श्लोक : 2।
2. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत - अर्जुनामिनमन पर्व, पृष्ठ 980, तथा वनपर्व-पृष्ठ 49।*

लगाकर उन्हें पाण्डव पक्षीय होने की प्रेरणा प्रदान की। कृष्ण का यह राजनीतिक विचार युद्ध की पृष्ठभूमि में बहुत महत्वपूर्ण है, हम लोगों का पाण्डवों और कारवों से एक सा सम्बन्ध है, पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथायोग्य अनुकूल व्यवहार करते हैं।[1] ऐसे समभाव का प्रदर्शन कृष्ण युद्ध से पूर्व दोनों पक्षों में अपनी सहायता विभक्त करके करते हैं।[2] इस समभाव प्रदर्शन के पीछे कृष्ण सत्य और न्याय के पक्ष को ही प्रधानता देने के पक्षपाती थे इसीलिये उन्होंने तुरन्त यह विचार प्रस्तुत कर दिया कि उनकी सहायता को चयन करने का प्रथम अवसर अर्जुन का है क्योंकि शास्त्र की आज्ञा है कि पहले बालकों को ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये। अतः अवस्था में छोटे होने के कारण पहले कुन्ती पुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पाने के पात्र हैं।

कृष्ण युद्ध अथवा हिंसा के पक्षपाती कभी नहीं रहे। कृष्ण पाण्डवों और कौरवों दोनों की शान्तिपूर्वक मेलजोल रखकर चलते देखना चाहते थे तथापि उनका यह दृढ़ मत था कि धर्म की जय होनी चाहिये। अधर्म को पनपने देना वे पसंद नहीं करते थे।[3] इसलिये जब न्याय और सत्य की प्राप्ति असम्भव हो जाये तो वे युद्ध को स्वाभाविक रास्ता और धर्म मानते थे। शान्तिपूर्ण प्रयासों की असफलता पर युद्ध उनके लिये अन्तिम स्थिति व समाधान था न कि प्रथम। यही राजनीतिक सिद्धान्त महासमर से पूर्व स्थापित होता है। यह जानते हुये भी कि युद्ध किन्ही भी परिस्थितियों में टाला नहीं जा सकता है फिर भी उन्होंने ही शान्तिवार्ता के लिये पहल करने की बात कही। धृतराष्ट्र को समझाने के लिये एक दूत भेजा जाये। अगर दुर्योधन अपनी गलती से बाज न आये तो अवश्यंभावी युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिये।[4]

राजा द्रुपद पर भविष्य की सब कार्यवाही सौंप कर भी कृष्ण पाण्डवों की हित चिंता में किस सीमा तक सम्बद्ध रहे यह उनके राजनीतिक विचारों से स्पष्ट हो जाता है

1. *किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु।*
   यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु चः।। सेनोद्योग पर्व, अध्याय 5, श्लोक 3।
2. *तव पूर्वाभिगमनात् पूर्व चाप्यस्य दर्शनात्।*
   सहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन।। सेनोद्योग पर्व, अध्याय 7, श्लोक 16।
3. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत - अर्जुनामिनमन पर्व, पृष्ठ 168।*
4. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 161।*

"आप ही आज पाण्डवों की कार्य सिद्धि के लिये अनुकूल संदेश भेजिये, आप जो कुछ भी संदेश भेजेंगे वह हम सब लोगों का निश्चित मत होगा। यदि कुरु श्रेष्ठ दुर्योधन न्याय के अनुसार शान्ति स्वीकार करेंगे तो कौरव और पाण्डवों में परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्दवश महान संहार न होगा। यदि धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन मोहवश घमण्ड में आकर हमारा प्रस्ताव स्वीकार न करेगा तो आप दूसरे राजाओं को युद्ध का निमंत्रण भेजकर सबके बाद हम लोगों को आमंत्रित कीजियेगा।[1] युद्ध की स्थिति में स्वयं सबसे अन्त में निमंत्रित किये जाने का राजनीतिक विचार केवल उपस्थित राजाओं में अपनी तटस्थता सिद्ध करना और युद्ध के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करना मात्र था अन्यथा वे सभी शान्ति प्रयासों को फलदायक नहीं मानते थे। शान्ति के प्रयास जहां जनमत अपने पक्ष में विकसित किये जाने के लिये थे। वहां युद्ध के लिये पर्याप्त तैयारी का समय प्राप्त करने के लिये भी। इससे वर्तमान तथा भविष्य का विश्व कौरवों को आक्रामक मान लेता।[2] राजाओं का मत था कि मुझे विश्वास नहीं कि दुर्योधन शान्ति समझौते को मानेगा। लेकिन फिर भी एक संदेशवाहक भेजना हमारे हित में ही रहेगा, इससे हमें युद्ध की तैयारी करने का समय मिल जायेगा।[3] कृष्ण की ओर से शान्ति के प्रयास गंभीर थे। वे आशा के विपरीत भी अन्तिम क्षण तक समझौते के संभावना को छोड़ना नहीं चाहते थे।[4] इसीलिये वे व्यक्तिगत रूप से शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर जाने के लिये उद्यत हो गये ताकि अन्तिम प्रयास और करके देख लिया जाये। यह स्थिति वास्तव में कृष्ण के इस विचार की ही जननी थी कि हर स्थिति में युद्ध और हिंसा को टाला जाये। उन्हीं के शब्दों में इस बिगड़े हुये कार्य को बनाने के लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर जाना चाहता हूँ। यदि पाण्डवों का स्वार्थ नष्ट किये बिना ही कौरवों के साथ इनकी संधि कराने में सफल हो सके तो मेरे द्वारा यह परम पवित्र और महान अभ्युदय का कार्य सम्पन्न हो जायेगा। तथा कौरव

---

1. *अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः।*
   अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाहृये।। सेनोद्योग पर्व, अध्याय 5, श्लोक 9।
2. *भगवद्यान पर्व, अध्याय 93, श्लोक 16।*
3. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 171।*
4. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 189।*

भी मौत के फंदे से छूट जायेंगे।[1] एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने ऐसा ही भाव प्रकट किया तुम लोगों की स्वार्थ सिद्धि में तनिक भी बाधा न पहुंचाते हुये दोनों पक्षों में संधि कराने का प्रयत्न करूंगा। यदि वे संधि स्वीकार कर लेंगे तो मुझे अवश्य यश की प्राप्ति होगी। तुम लोगों का मनोरथ पूरा होगा और कौरवों का कल्याण होगा। यदि वे कौरव युद्ध का ही आग्रह दिखायेंगे और मेरे साथ विषयक प्रस्ताव को ठुकरा देंगे तब यहां युद्ध ही होगा जो भयंकर कर्म है।[2] कृष्ण अपने प्रयास में अधिक आशावान नहीं क्योंकि राज्य के प्रश्नों को लेकर दोनों पक्षों में शान्ति बनी रहे यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रों सहित धृतराष्ट्र जिस राज्य में आसक्त होकर उसे लेने की इच्छा करते हैं उसके लिये इन कौरव पाण्डवों में कलह कैसे न बढ़ेगी।[3] अपने प्रयासों से संभावित असफलता को वे विधि विधान पर उत्तरदायी करके स्वयं को पहले से ही असहाय घोषित कर देते हैं। मैं पुरुषार्थ मे जितना हो सकता है उतना संधि स्थापना के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करूंगा परन्तु प्रारब्ध के विधान को किसी प्रकार भी टाल देना या बदल देना मेरे लिये संभव नहीं...मेरे द्वारा वाणी और प्रयत्न से जो कुछ हो सकता है वह मैं अवश्य करूंगा, पर मुझे यह तनिक भी आशा नहीं है कि शत्रुओं के साथ संधि हो जायेगी।[4] युद्ध की अनिवार्यता के कारण ही कृष्ण द्रौपदी को विश्वास के साथ शत्रु पत्नियों के विलम्ब की प्रतिज्ञा कर बैठ-''तुम जिन पर क्रुद्ध हुई हो उनकी स्त्रियां भी अपने प्राण प्यारे पतियों को अर्जुन के वाणों से छिन्न भिन्न और खून से लथपथ मरकर धरती पर पड़ा देख इसी प्रकार रोयेंगी।[5] निराशा की स्थिति में भी कर्तव्य की उपेक्षा न करना, अन्तिम

---

1. *अहापयित्वा यदि पाण्डपार्थे*
   शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम्
   पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
   मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात्।। संजययान पर्व, अध्याय 29, पृष्ठ 48।
2. *शमं चेत् ते करिष्यन्ति ततोऽनन्तं यशोमम्।*
   भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम्।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 77, श्लोक 16 एवं 17।
3. *संजययान पर्व, अध्याय 29, पृष्ठ 3।*
4. *अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः।*
   दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तु कथंचन।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 79, श्लोक 5।
5. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत-अर्जुनामिनमन पर्व, पृष्ठ 988, तथा वन पर्व पृष्ठ 59।*

स्थिति तक अहिंसा, शान्ति, उदारता का पालन करते रहना, जैसे को तैसा तथा हर परिस्थिति में न्याय पक्ष की हित चिन्ता आदि कृष्ण के राजनैतिक विचार महाभारत युद्ध की पृष्ठभूमि में अन्तर्निहित है।

घृतराष्ट्र के शान्ति दूत संजय से विवाद के अन्तर्गत भी कृष्ण ने कुछ राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। एक ईमानदार दलाल की माँति उन्होंने संजय को अपनी तटस्थता का विश्वास दिलाते हुये युद्ध की बुराईयों और शान्ति के कल्याण पर प्रभाव डालते हुए शान्ति और सन्धि के राजनीतिक विचार को युद्ध से श्रेष्ठ सिद्ध किया। '' मैं जिस प्रकार पाण्डवों को विनाश से बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ उसी प्रकार अनेक पुत्रों से युक्त राजा धृतराष्ट्र का भी अभ्युदय चाहता हूँ। मेरी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षों में शान्ति बनी रहे। कुन्ती कुमारों, कौरवों से सन्धि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो, इसके सिवाय दूसरी कोई बात मैं पाण्डवों के सामने नहीं कहता हूँ। राजा युधिष्ठर के मुँह से भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसी को ठीक मानता हूँ।[1] कृष्ण का सबके हित का विचार संजय की पाण्डवों द्वारा धर्म के आचरण में व्यक्त शंका के समाधान में और अधिक रूप से स्पष्ट है जहाँ वे कर्म त्याग के स्थान पर कर्म में युक्त होने को श्रेष्ठ सिद्ध करके कौरवों को अधर्मी सिद्ध कर देते हैं-ज्ञान का विधान भी कर्म के साथ बेकार ही है। अतः ज्ञान में कर्म विद्यमान है.......ये देवता कर्म से ही स्वर्ग लोक में प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्म को अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़ कर कर्म द्वारा ही दिन-रात का विभाग करते हुये प्रतिदिन उदित होते हैं। नदियाँ आलस्य छोड़कर प्राणियों को तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल बहाया करती हैं। चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर मास, पक्ष तथा नक्षत्रों का योग प्राप्त करते हैं।.....पाण्डव अपने बाप दादाओं के कर्म क्षात्रधर्म में प्रवंच हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये यदि दैववश मृत्यु को भी

---

1. *कामो हि मे संजय नित्यमेव*
   नान्यद्ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति
   राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छ्रणोमि
   मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम्। संजययान पर्व, अध्याय 29, पृष्ठ 2।

प्राप्त हो जायें तो इनकी वह मृत्यु उत्तम मानी जायेगी। यदि तुम (संजय) शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ युद्ध में प्रवृत होने से राजाओं के धर्म का ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जाने से ? संजय तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के विभाग तथा उनमें से प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने कर्म देख लो फिर पाण्डवों के वर्तमान धर्म पर दृष्टिपात।''[1] इस तीखी फटकार से कृष्ण ने कर्तव्य के राजनैतिक विचार को शान्ति के नाम में उचित युद्ध का त्याग न करने के लिये प्रतिपादित किया है। शान्ति के नाम में कर्तव्य की उपेक्षा या युद्ध से पीठ दिखाना उचित नहीं। यह राजनैतिक विचार कृष्ण ने संजय के सम्मुख प्रस्तुत करके पाण्डवों को ही कर्तव्यनिष्ठ नहीं बनाया बल्कि मनुष्यमात्र को कर्तव्ययुक्त होने की प्रेरणा दी। पाण्डवों को धर्मात्मा सिद्ध करने के उपरान्त कृष्ण ने कौरवों को अधर्मी सिद्ध कर उनके शान्ति दूत का मुँह बन्दकर दिया, जिससे उसका सारा ध्येय ही समाप्त हो गया। लुटेरों का वध करने से पुण्य की प्राप्ति होती है। संजय कौरवों में लुटेरेपन का दोष तीव्ररूप से प्रकट हो रहा है जो अच्छा नहीं है। वे अधर्म के तो पूरे पण्डित हैं परन्तु धर्म की बात बिल्कुल नहीं जानतें राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के साथ मिलकर सहसा पाण्डवों के धर्मतः प्राप्त पैतृक राज्य का अपहरण करने को उतारू हो गये हैं। अन्य समस्त कौरव भी उन्हीं का अनुसरण कर रहे हैं। वे प्राचीन राजधर्म की ओर नहीं देखते हैं। चोर छिपा रह कर धन चुरा ले जाये अथवा सामने आकर डाका डाले दोनों ही दशा में वे चोर डाकू निंदा के पात्र होते हैं। संजय, तुम्हीं कहो धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन और उन चोर डाकुओं में क्या अन्तर है........वह लोभ से राज्य को ले लेना चाहता है। इसे वह धर्म मान रहा है परन्तु वह तो पाण्डवों का भाग है जो कौरवों

---

1. *कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र*
   कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा।।
   अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
   अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः। संजययान पर्व, अध्याय 29, श्लोक 9।
   मासार्धमासनथ नक्षत्रयोग-
   नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चभ्युपैति
   अन्तन्द्रितो दहते जातवेदाः
   समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्याः।। संजययान पर्व, अध्याय 29, श्लोक 10 एवं 11, 20, 21।

के यहाँ धरोहर के रूप में रखा गया है, संजय, हमारे उस मार्ग को हमसे शत्रुता रखने वाले कौरव कैसे ले सकते हैं। इस राज्य भाग की प्राप्ति के लिये युद्ध करते हुये हम लोगों का वध हो जाये तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है। बाप दादाओं का राज्य पराये राज्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है। संजय, तुम राजाओं की मण्डली में राजाओं के इन प्राचीन धर्मों का कौरवों के समक्ष वर्णन करना। संजय,..........धूत सभा में जो अन्याय हुआ था उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठर को धर्म का उपदेश देना चाहते हो.......संजय, पुत्रों सहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं। पाण्डव उस में निवास करने वाले व्याघ हैं। सिंह से रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वन में रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता। उस वन का उच्छेद न करों क्योंकि वन के बाहर निकला हुआ व्याघ मारा जाता है और बिना व्याघ के वन को सब लोग आसानी से काट लेते हैं। अतः व्याघ वन की रक्षा करे और वन व्याघ की.........शत्रुओं का दमन करने वाले कुण्तीनन्दन पुत्र धृतराष्ट्र को जो कर्तव्य हो उसका वे पालन करें। विद्वान संजय धर्म का आचरण करने वाले महात्मा पाण्डव शान्ति के लिये भी तैयार हैं और युद्ध के लिये भी समर्थ हैं। इन दोनों वास्थाअ को समझ कर तुम राजा धृतराष्ट्र से यथार्थ बातें कहना।[1] शत्रु पक्ष के शान्ति दूत को हतोत्साहित करके अपने पक्ष का मनोबल ऊँचा बनाये रखने का राजनीतिक विचार कृष्ण के अनेकों विचारों में से एक महत्वपूर्ण विचार है। पाण्डव पक्ष को धर्मानुकूल सिद्ध करके, कौरवों को अत्याचारी, अन्यायी, अधर्मी और पुरातन परम्परा का विध्वंसक

---

1. *तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते*
   सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपाः।
   अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
   प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न।। संजययान पर्व, अध्याय 29, श्लोक 31।
   तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
   धर्म्यं हरेत् पाण्डवानाम्कस्मात्।
   नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
   तदन्वयः कुरुवः सर्व एव ।। संजययान पर्व, अध्याय 29, श्लोक 32 एवं 33 से 35, 41।
   वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
   व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः।
   सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
   सिंहो न नश्येत् वनाभगुप्तः।। संजययान पर्व, अध्याय 29, श्लोक 54 एवं 55 से 58।

बताकर कृष्ण ने यह राजनैतिक विचार प्रस्तुत किया है कि शत्रु शान्ति दूत को भी उसी के पक्ष की अनीतियाँ प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करके प्रमाणित करना चाहिए ताकि वह अपना मनोरथ पूर्ण करने से पूर्व ही अस्थिर हो जाये। जब कौरव दूत को कृष्ण ने सभी नीति, ज्ञान और मर्यादाओं से अवगत करा प्रभावित कर लिया। तब उसके हृदय को पूर्ण सम्मोहन में बाँधने के लिये ही उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि पाण्डव फिर से सारे अनाचारों को भूलकर धृतराष्ट्र के सेवक बनने के लिये तैयार हैं। युद्ध और शान्ति दोनों ही स्थिति के लिये तैयार होने की बात कहकर कृष्ण ने कौरव दूत को यह अवगत कराया कि पाण्डव युद्ध से घबड़ाते नहीं। अल्पसंख्यक होते हुये भी महाबली साथियों के साथ भयंकर युद्ध करें अन्यथा दोनों शान्तिपूर्वक मिलकर रहें तो दोनों ही पक्षों का लाभ हो सकता है। यह ऐसे विचार थे जो विरोधी दूतमण्डल की राजनीति को हर समय और हर काल देश में निरस्त करने के लिये पर्याप्त हो सकते हैं।

युद्ध की पृष्ठभूमि में दुर्योधन पक्ष के प्रमुख नायक कर्ण का भेद नीति द्वारा पाण्डव पक्ष में करने का कृष्ण का प्रयास महत्वपूर्ण राजनैतिक विचारों का प्रणेता हैं अनेकों लालच, रक्त सम्बन्ध के बन्धन एवं सहयोग की बातें कहकर उन्होंने कर्ण को पाण्डव पक्षीय बनने को प्रोत्साहित किया। उनका यह प्रयास वास्तव में युद्ध की स्थिति में शत्रु के पक्ष को शक्तिहीन करने का राजनीतिक विचार था। कृष्ण, ''कर्ण'' सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है, इसे तुम अच्छी तरह जानते हो। धर्मशास्त्र के सूक्ष्म विषयों के भी तुम प्रतिष्ठित विद्वान हो. ......कुन्ती से ही कन्यावस्था में उत्पन्न हुये हो। अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डु के ही पुत्र हो इसलिये धर्मशास्त्रों के निश्चय के अनुसार तुम्हीं राजा होगे। पिता के पक्ष के में कुन्ती के सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं। मातृपक्ष में समस्त वृष्णि वंश तुम्हारे साथ है। पुरुष श्रेष्ठ तुम अपने इन दोनों पक्षों को जान लो........मेरे साथ यहाँ से चलने पर जब यह मालूम होगा कि तुम कुन्ती के पुत्र हो और युधिष्ठर से पहले तुम्हारा जन्म हुआ है तब द्रोपदी के पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु तुम्हारे चरणस्पर्श करेंगे तथा उनकी सहायतार्थ अपने राजा भी तुम्हारे चरणों में नतमस्तक होंगे। बहुत से राजपुत्र और राजकन्यायें सोने, चाँदी और मिट्टी के कलश सब प्रकार

के बीज, सम्पूर्ण रत्न आदि अभिषेक सामग्री लेकर आयें..........पाँचों भाई पुरुष सिंह पाण्डव, द्रोपदी के पाँचों पुत्र, पांचाल और चेदि देश के नरेश तथा में-ये सब लोग तुम्हें पृथ्वी पालक सम्राट के पद पर अभिषिक्त करेगें तथा युधिष्ठर तुम्हारे युवराज होंगे जो हाथ में चंवर लेकर तुम्हारे पीछे बैठेगें। महाबली कुन्ती कुमार भीमसेन राज्याभिषेक होने के पश्चात तुम्हारे मस्तक पर क्षत्र धारण करेंगे.......अभिमन्यु तुम्हारी सेवा के लिये खड़ा रहेगा। नकुल, सहदेव द्रौपदी के पाँचों पुत्र पांचालदेशीय क्षत्रिय तथा महारथी शिखण्डी तुम्हारे पीछे चलेंगे। मैं तथा समस्त अंधक और वृष्णि वंश के लोग भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे। महाबली तुम अपने भाई पाण्डवों के साथ राज्य भोगो, जप, होम, तथा नाना प्रकार के मांगलिक कार्यों में संलग्न रहो और कुन्ती को आनन्दित करो।[1] युद्ध की पूर्व बेला में उसी व्यक्ति को अपना बनाने का प्रयास करना जो विरोधी पक्ष का आधार हो। वास्तव में यह कृष्ण के विचारों की पराकाष्ठा थी। वह इसलिये भी क्योंकि कर्ण के सम्बन्ध में कृष्ण के विचार अत्यधिक विरोधी थे। अतः कृष्ण का यह विचार अद्भुत था कि युद्धकालीन परिस्थिति में शत्रु पक्ष को कमजोर करने के लिये घोर विरोधी एवं कटुतम शत्रु को भी अपने पक्ष में मिलाने का प्रयास करना चाहिये।

कृष्ण के सन्धि प्रयासों के असफल हो जाने पर समस्या के समाधान का केवल अन्तिम मार्ग ही रह गया और वह राजनैतिक विचारों की भाषा में दण्ड का रास्ता था। कृष्ण स्वयं युद्ध की अनिवार्यता के प्रति असहाय प्रतीत हो रहे थे, मैंने जो धर्म और अर्थ से युक्त हितकर बात कही है वह छल कपट करने में ही कुशल कुरुवंशी दुर्योधन के मन में नहीं बैठती है। वह खोटी बुद्धि वाला दुष्ट, भीष्म तथा विदुर की, न मेरी ही बात सुनता.........वह दुरात्मा दुर्योधन, पक्ष का आश्रय लेकर सभी वस्तुओं को जीती हुई ही समझता है। इसलिये न धर्म की इच्छा रखता है न यश की ही कामना करता है......दुरात्मा कौरव आपके

---

1. *तथैव भ्रातरः पन्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः।*
द्रौपदेयास्तथा पन्च पान्चालाश्चेदयस्तथा।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 140, श्लोक 17 एवं 18 से 20।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पन्च ये।
पन्चालाश्चानुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथाः।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 140, श्लोक 23 एवं 25 से 28।

प्रति न्याय युक्त व्यवहार नहीं कर रहा है।[1]......अब में चौथे उपाय दण्ड के प्रयोग की ही आवश्यकता देखता हूँ अन्यथा उन्हें मार्ग पर लाना असंभव है....वे कौरव बिना युद्ध किये राज्य नहीं देंगे।[2]

शान्ति दूत के रूप में व्यक्त विचार :

युद्ध से पूर्व कृष्ण ने स्वयं शान्ति दूत की भूमिका निभाई और अनेकों राजनीतिक विचार प्रतिपादित किये। विदुर से उन्होंने कहा, मैं धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन की दुष्टता और क्षत्रिय योद्धाओं के वैरमाव-इन सब बातों को जानकर ही आज कौरवों के पास आया हूँ। मैं तो निष्कपट भाव से धृतराष्ट्र के पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डल के सभी क्षत्रियों के हित का ही प्रयत्न करूँगा। इस प्रकार हित साधना के लिये प्रयत्न करने पर भी यदि दुर्योध ान मुझ पर शंका करेगा तो भी मेरे मन को प्रसन्नता ही होगी और मैं अपने कर्तव्य के मार से उऋण हो जाउंगा। भाई बन्धुओं में परस्पर फूट होने क अवसर आने पर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल कराने के लिये मध्यस्थता नहीं करता उसे विद्वान पुरुष मित्र नहीं मानते हैं।[3] शान्तिदूत के रूप में अपने को दोनों पक्षों पर मित्र बताना, सन्धि की राजनीति में नवीन विचार था। शान्तिदूत को केवल कर्तव्य की भावना से प्रयत्न करना चाहिये न कि किसी पक्ष के हितार्थ, यह कृष्ण का एक अन्य विचार है। सभाभवन में जिस रूप में वार्ता प्रारम्भ हुई उससे कृष्ण का यह राजनीतिक विचार मुखर होता है कि उस पक्ष के अहम् तुष्ट करने के लिये उसे महान कहा जाना चाहिये। उसे अशान्ति और हिंसा के दुर्गुणों से अवगत कराना चाहिये तथा शत्रु की उदार वृत्ति की प्रसंसा करते हुये न्यायप्रियता के प्रदर्शन की कामना हेतु प्रिय वचन कहने चाहिये, मैं यहाँ प्रार्थना करने के लिये आया हूँ कि क्षत्रिय वीरों का संहार हुये

---

1. *किं च तेन भयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः।*
   संक्षेपेण दुरात्मासौ न युक्तं त्वयि वर्तते।। सैन्यनिर्याण पर्व, अध्याय 154, श्लोक 13।
2. *एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्युमुन्चत।*
   दण्डं चतुर्थ पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा।। सैन्यनिर्याण पर्व, अध्याय 150, श्लोक 18।
3. *हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानाम् तथैव च।*
   पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 93, श्लोक 13 एवं 14-15।

बिना ही कौरवों और पाण्डवों में शान्ति स्थापित हो जाये। मुझे इसके सिवाय दूसरी कोई और बात कल्याण की नहीं कहनी, क्योंकि जानने योग्य जितनी बातें हैं वह सब आपको विदित हैं। इस समय राजाओं में यह कुरु वंश ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें शास्त्र एवं सदाचार का पूर्णतः आदर व पालन किया जाता है। यह कौरव कुल समस्त सद्‌गुणों से उत्पन्न है। अत्यन्त प्रतिष्ठित कुल के होते हुये भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो तो यह ठीक नहीं है। दुर्योधन आपके पुत्र धर्म को और अर्थ को पीछे करके बुरे मनुष्यों के समान आचरण करते हैं....... ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओं के साथ अशिष्टतापूर्ण व्यवहार करते हैं। लोभ ने इनके हृदय को ऐसा वशीभूत कर दिया है। कि धर्म की मर्यादा इन्होंने तोड़ दी है। इस समय यह अत्यंत भयंकर आपत्ति कौरवों में ही प्रकट हुई है। यदि आप चाहें तो इस भयंकर आपत्ति का अब भी निवारण किया जा सकता है। इस समय इन दोनों पक्षों में सन्धि करना मेरे और आपके आधीन है। आपके पुत्रों को चाहिये कि वे अपने अनुयायियों के साथ आपका प्रत्येक आज्ञा का पालन करें। आपके शासन में रहने से ही उनका महान हित हो सकता है यदि आप अपने पुत्र पर शासन करना चाहें और सन्धि के लिये प्रयत्न करें तो इसी मे आपका भी कल्याण और पाण्डवों का भी भला हो सकता है। पाण्डवों के साथ बैर और विवाद का कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता। आप पाण्डवों से सुरक्षित होकर धर्म और अर्थ का अनुष्ठान कीजिये.......शत्रुसूदन (धृतराष्ट्र) नरेश कौरव और पाण्डवों के साथ रहने पर अप पुनः सम्पूर्ण जगत के सम्राट होकर शत्रुओं के लिये अजेय हो जायेंगे और सर्वथा सुरक्षित रह कर सुख से जीवन बिता सकेंगे......इन समस्त पाण्डवों तथा अपने पुत्रों के साथ रहकर आप दूसरे शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकेंगे......भूमण्डल के समस्त राजा यहाँ एकत्रित होकर अमर्ष में मरकर इन प्रजाओं का नाश करेंगे। कुरुकुल को आनन्दित करने वाले नरेश आप इस जगत की रक्षा कीजिये। आपके पुत्र पाण्डवों ने इस समा के लिये ही यह संदेश दिया है। आप समस्त सभासद मर्म के ज्ञाता है। आपके रहते हुये यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो ये उचित नहीं है। ऐसा साधु बर्ताव वाले युधिष्ठिर के राज्य तथा धन धान्य का अपहरण कर लेने की इच्छा से सुबल पुत्र शकुनि ने जुये के बहाने अपना महान कपट जाल फैलाया। उस दयनीय अवस्था में पहुँच कर

अपनी महारानी कृष्णा को सभा में (तिरस्कारपूर्वक) लाई हुई देखकर भी महामना युधिष्ठर अपने दायित्व धर्म से विचलित नहीं हुये.....मैं आपका और पाण्डवों का कल्याण चाहता हूँ। राजन् आप समस्त प्रजा को धर्म, अर्थ और सुख से वंचित मत कीजिये। राजन् शत्रुओं का दमन करने वाले कुन्ती पुत्र आपकी सेवा को भी तैयार हैं और युद्ध के लिये भी प्रस्तुत हैं। जो आपने लिये विशेष हितकर जान पड़े उसी मार्ग का अनुकरण कीजिये।[1] सन्धि के लाभ, पाण्डवों की मित्रता से कुरु वंश की और अधिक ख्याति, पाण्डवों को भी पुत्रवत मानने की बात[2] कहकर तथा युद्ध द्वारा प्रजा के सुख को छीनने के अधिकारी न होने की बात कह कर कृष्ण ने शान्ति दूत के रूप में ऐसा प्रभावपूर्ण राजनीतिक विचार प्रस्तुत किया कि दुर्योधन और सहयोगियों के अतिरिक्त सभी उनकी बात से सहमत हो गये।[3] कृष्ण का राजनैतिक विचार था कि मुख्य शत्रु से भी बातचीत करनी चाहिये। इसलिये जानते हुए भी कि दुर्योधन परिवर्तित नहीं किया जा सकेगा। उन्होंने सभा में उसे भी सम्बोधित किया, कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन मेरी बात सुनो। भारत, में विशेषतः सगे सम्बन्धियों सहित तुम्हारे कल्याण के लिये तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ। तुम परम ज्ञानी महापुरुषों के कुल में उत्पन्न हो स्वयं भी शास्त्रों के ज्ञान तथा सद् व्यवहार से सम्पन्न हो। तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं। जिसे तुम ठीक समझते हो ऐसा कार्य, अधम कार्य तो वे लोग करते हैं जो नीचे कुल में उत्पन्न हुए हैं तथा जो दुष्ट चित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं.......यदि तुम उस अनर्थकारी दुरागृह को छोड़ दो तो अपने कल्याण

---

1. *ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।*
   धर्माथौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत्।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 95, श्लोक 9।
   अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः।
   स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 95, श्लोक 10 एवं 11-17।
   लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम्।
   प्राप्स्यसि त्वममित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 95, श्लोक 22 एवं-
   भगवद्यान पर्व, अध्याय 95, श्लोक 26, 32, 33, 58, 59।
   अहं तु तौ तेषां च श्रेय इच्छामि भारत।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 95, श्लोक 60।
   धर्माद्र्थात् सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः।
   अनर्थमर्थे मन्वानोऽप्यर्थे चानर्थमात्मनः।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 95, श्लोक 61 एवं 62।
2. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 192।*
3. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 192।*

के साथ ही भाइयों, सेवकों तथा मित्रों का भी महान हित साधन करोगे। सन्धि होने पर ही सम्पूर्ण जगत का भला हो सकता है। जो मोहवश अपने हित की बात नहीं मानते वह मनुष्य अपने स्वार्थ से भ्रष्ट होकर केवल पाश्चाताप के भागी होते हैं। जो मानव कल्याण की बात सुन कर अपने मन का आग्रह छोड़कर पहले उसी को ग्रहण करते हैं वह संसार में सुखपूर्वक रहते हैं।[1] शान्ति दूत के रूप में मुख्य शत्रु को प्रभावित करने का विचार कृष्ण के ही योग्य था। पाण्डवों से न्यायिक सद्व्यवहार करके उनकी नम्रता और दुर्योधन को ही उत्तराधिकारी बनाने की बात कृष्ण के राजनीतिक विचारों के लचीलेपन और परिपक्वता के प्रमाण हैं। दुर्योध ान को दिये गये न्याय और बुद्धि के द्वारा समझौते के राजनीतिक विचार से कृष्ण ने राजनीतिक विचारों के इतिहास में नये क्षितिज को जन्म दिया। अगर तुम न्याय और बुद्धि पर ध्यान दोगे तो पाण्डव स्वयं ही धृतराष्ट्र को राजा और तुम्हें उसका उत्तराधिकारी बना देंगे।[2] इस राजनीतिक विचार को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिये उन्होंने पाण्डवों द्वारा सर्वराज्य त्यागने और पाँच गाँव लेकर ही सन्धि करने का प्रस्ताव रख दिया। सारा राज्य तुम्हारे पास ही रहे, तुम पाण्डवों को पाँच ही गाँव दे दो क्योंकि तुम्हारे पिता के लिये पाण्डवों का भरण पोषण भी परम आवश्यक है।[3] इस राजनीतिक विचार ने जब कोई प्रतिफल नहीं दिया तो कृष्ण धृतराष्ट्र सहित सभी कौरवों की भर्त्सना करने के लिये स्वतंत्र हो गये क्योंकि अब वह विश्व को बता सकते थे कि पाण्डव अपने अधिकार को त्याग कर[4] मात्र जीवकोपार्जन पर भी शान्ति के लिये उद्यत हो गये हैं परन्तु लोभी और अनाचारी कौरव किसी भी शर्त पर शान्ति के इच्छुक नहीं हैं, वे युद्ध चाहते हैं। अतः पाण्डवों को युद्ध विवशता में करना पड़ रहा

---

1. *तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि।*
   भ्रातृणामथ भृत्यानां मित्राणां च परंतप।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 124, श्लोक 14 एवं भगवद्यान पर्व, अध्याय 124, श्लोक 19, 23, 24।
2. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 191।*
3. *सर्वं भवतु ते राज्यं पन्च ग्रामान् विसर्जय।*
   अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम्।। सैन्यनिर्याण पर्व, अध्याय 150, श्लोक 17।
4. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पा० : महाभारत : पृष्ठ 2433-2435।*

है और युद्ध का निमंत्रण कौरवों ने ही दिया है।[1] दुर्योधन और दुःशासन के सभा से बहिर्गमन के बाद कृष्ण ने अपने राजनैतिक विचारों का अन्तिम तीर छोड़ा, कंस और शिशुपाल की मृत्यु के बाद अब यादव और वृष्णि प्रसन्नता से रह रहे हैं। सम्पूर्ण जाति को बचाने के लिये कभी एक व्यक्ति को बलिदान अनिवार्य हो जाता है। कभी-कभी क्या ऐसा नहीं होता कि सारे देश को बचाने क लिये एक गाँव को छोड़ना पड़ता है। मुझे भय है कि यदि तुम अपनी जाति को बचाना चाहते हो तो दुर्योधन का बलिदान करना पड़ेगा। अब यही रास्ता बाकी है।[2] कृष्ण का शत्रु पक्ष को यह राजनीतिक विचार सुझाना कि व्यापक हित के लिये अपनी निजी प्रिय वस्तु का बलिदान करना उतना ही साहसिक था जितना दुर्योधन द्वारा उन्हें कैद करने के सभी कुचक्रों को तोड़कर उनका सकुशल दौत्य कार्य करके लौटना।

युद्ध में निभाई भूमिका के संदर्भ में व्यक्त विचार :

शान्तिदूत के कर्तव्य पालन से पूर्व ही कृष्ण पाण्डवों के अल्पसंख्यक होने के कारण युद्ध में कौरवों के संहार के मार्ग के गम्भीरतापूर्ण चिन्तन में लगे हुये थे। उन्होने घोषणा कर दी थी कि युद्ध होकर रहेगा, आज से सातवें दिन के बाद अमावस्या होगी उसी में युद्ध आरम्भ किया जाये......आप लोगों के मन में जो अभिलाषा है वह सब में अवश्य पूर्ण करूंगा।[3] युद्ध से पूर्व कृष्ण ने जो अभूतपूर्व प्रतिज्ञा ली।[4] वह उनकी तटस्थता की राजनीति के लिये एक विकट चुनौती थी परन्तु कृष्ण अपने युग के ही नहीं सब युगों के अग्रणी राजनीतिज्ञ होने के कारण अपनी आन को बनाये रखने में सफल हुये। उन्होने प्रतिज्ञानुसार वास्तविक संघर्ष में हिस्सा नहीं लिया परन्तु पाण्डवों को अपनी बुद्धि द्वारा सहायता प्रदान करके उन्होंने एक साथ अपनी सैनिक सहायता की कमी को ही पूरा नहीं किया बल्कि अपने तटस्थ

---

1. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पा0 : महाभारत : पृष्ठ 2395।*
2. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 192।*
3. *सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति।*
   संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम्।। भगवद्यान पर्व, अध्याय 142, श्लोक 18 एवं 19।
4. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 173।*

राजनीति के विचार को स्थापित होते हुये उसे अक्षत न होने दिया। युद्ध में उनकी भूमिका बौद्धिक राजनीति की ही रही। इसलिये उस भूमिका में उनके राजनैतिक विचार स्वाभाविक रूप में निहित थे।

पाण्डवों के मुख्य सेनापति बनाने के प्रश्न पर काफी वाद-विवाद हुआ। कृष्ण को यह विवाद तय करना पड़ा और इस प्रयास में वे बहुसंख्यक शत्रु को अल्पसंख्यक सेना से जीतने के राजनीतिक विचार का प्रतिपादन कर बैठे हैं। उन्होंने वहाँ प्रस्तावित किसी भी नाम को अयोग्य न बताकर सबके मनोबल को ऊँचा ही नहीं उठाया बल्कि उनमें पड़ने वाली फूट की संभावना को ही नष्ट कर दिया। युधिष्ठर की बात सुनकर अर्जुन को सम्बोधित करते हुये उन्होने जो घोषणा की उसमें महत्वपूर्ण विचार निहित था। आप लोगों ने जिन-जिन वीरों के नाम लिये वे सभी मेरी राय में सेनापति होने योग्य हैं। ये सभी पराक्रमी योद्धा हैं.......... .धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन युद्ध के लिये आतुर हो रहा है......अतः आप अपनी सेना को युद्ध के लिये अच्छी तरह सुसज्जित कीजिये। मैं दृष्टद्युम्म को ही प्रधान सेनापति होने योग्य मानता हूँ।[1] यह निर्णय उन्होंने इसलिये लिया कि वही व्यूह संघर्ष में कुशल था जो कौरवों की विशाल सेना के संहार के लिये एकमात्र रास्ता था। युद्ध में पाण्डवों की सेना केवल सात अक्षौहिणी और कौरवों के पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना में एकत्र हो गयीं थी।[2] अल्प सेना को अनुशासित तथा अधिक कार्य कुशल बनाने के लिये कृष्ण ने जो सात प्रथम सेनापतियों के विचार को दिया वह अत्यंत महत्वपूर्ण था। इसे कृष्ण ने आवश्यक कर्तव्य बताते हुये कहा, 'इस समय जो आवश्यक कर्तव्य है उसका पालन कीजिये। अपनी सेना के सात सेनापतियों को यहाँ निश्चित कीजिये।[3] पहले से ही सेनापतियों की नियुक्ति के कारण ही पाण्डवों में संगठन

---

1. *कृतास्त्रं मनयते बाल आत्मानमविचक्षणः।*
   धार्तराष्ट्रो बलस्थं च पश्यत्यात्मानमातुरः।। सैन्यनिर्याण पर्व, अध्याय 151, श्लोक 44 एवं 45।
   सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षे दुरासदम्।
   धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः।। सैन्यनिर्याण पर्व, अध्याय. श्लोक, पृष्ठ 48।
2. *अक्षौहिण्यवस्तु सप्तैव पाण्डवनामभद् बलम् ।*
   अहौहिण्यो दशैका च कौरवाणमभूद् बलम्।। सैन्यनिर्याण पर्व, अध्याय 155, श्लोक 27।
3. *रोचते मे महाबाहो क्रियतां यदनन्तरम्।*
   नायकास्तव सेनायां क्रियन्तामिह सप्त वै।। सैन्यनिर्याण पर्व, अध्याय 157, श्लोक 10।

बना रहा जो अल्पसंख्यक सेना के लिये जीवनाधार होता है। इसके अभाव में बहुसंख्यक होते हुये भी कौरव सेना असंगठित रही। सैनिक लाभ पाण्डवों को कृष्ण के राजनैतिक विचार के कारण ही प्राप्त हुआ।

युद्ध प्रारम्भ होने पर कृष्ण ने एक आदर्शमयी विचार प्रस्तुत किया जिससे न केवल युद्ध की परम्परायें और आदर्शों का भलीभांति पालने हो सके बल्कि युद्ध की शत्रुपूर्ण कटुता में कमी हो जाये-जो शास्त्र की आज्ञा से माननीय पुरुषों से आज्ञा लेकर युद्ध करता है उसकी उस युद्ध में अवश्य विजय होती है।[1] जब पहले दिन पाण्डवों को भारी पराजय हुई तो वे अत्यधिक निराशा में डूब गये। उनकी निराशा को कृष्ण ने पाण्डवपक्षीय वीर नायकों की ख्याति बताकर दूर कर दी। कृष्ण ने उन्हें यह राजनीतिक विचार प्रदान किया कि क्षणिक असफलताओं से निराश नहीं होना चाहिये।[2]

अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिये ही कृष्ण ने दो बार अपने तटस्थ रहने की प्रतिज्ञा को तोड़ने की धमकी दी।[3] कृष्ण पूर्णशक्ति से युद्ध करने के राजनीतिक विचार के पक्षपाती थे इसीलिये अर्जुन के अनमने प्रयासों के विरुद्ध उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध के राजनीतिक विचार को जन्म दिया। अर्जुन को लक्ष्य करके चलाये गये, भागदत्त के प्रहार को स्वयं सीने पर ग्रहण करके कृष्ण ने न केवल अर्जुन की प्राण रक्षा की[4] अपितु आधुनिक जगत के उस राजनीतिक विचार को प्रतिपादित कर दिया जिसमें मित्र की युद्ध सामग्री शत्रु द्वारा उसके मित्र के विरुद्ध प्रयुक्त नहीं की जा सकती। मागदत्त द्वारा चलाया गया अस्त्र कृष्ण ने ही प्रदान किया था इसलिये पाण्डव पक्ष के सारथी तथा तटस्थ व्यक्ति होने के कारण यह उनका पुनीत कर्तव्य था कि उनके द्वारा प्रदत्त हभियारों का प्रयोग उनके मित्रों के विरुद्ध न हों। अपनी सेना का मनोबल कम हुए बिना शत्रु को कमजोर न समझने का राजनीतिक विचार कृष्ण ने प्रस्तुत किया जबकि

---

1. *अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्मइत्तरैः।*
   ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम।। भीष्म वध पर्व, अध्याय 43, श्लोक 24।
2. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 211।*
3. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 216 एवं 231।*
4. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 246।*

अर्जुन का दुर्योधन से प्रथम भिडन्त हुई- 'याद रखना कि बहुत योग्य और बहुत बहादुर सैनिक है।[1] सत्यकि और मूरिश्रवा के मध्य संघर्ष में सत्यकि की गिरती दशा को देखकर कृष्ण ने कहा- ' कौरवों की सेना से लड़कर आने में पहले से ही सत्यकि थक चुका था। मुरिश्रवा की चुनौती को स्वीकार करने के लिये मजबूर किया गया था। यह बिल्कुल असमान संघर्ष है।' अर्जुन ने दो वीरों के बीच दखल देना अस्वीकार कर दिया क्योंकि उसे युद्ध के लिये ललकारा नहीं गया था।[2] कृष्ण के यह राजनीतिक विचार व्यक्त करने पर कि मित्र की रक्षा में शत्रु के ललकारने की आवश्यकता नहीं। तभी अर्जुन ने मुरिश्रवा का हाथ काट कर सत्यकी की रक्षा की। होश आने पर सत्यकी योगमुद्रा में मग्न मुरिश्रवा को तलवार से समाप्त कर दिया। इस अवसर पर ये चुप रहे। अतः कृष्ण के राजनैतिक विचारानुसार युद्ध में हर परिस्थति में मित्र की रक्षा और शत्रु की हर परिस्थिति में समाप्ति वैध है।

पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु से कुपित और शोकाकुल अर्जुन ने जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा कर डाली। कृष्ण ने इसे राजनैतिक दृष्टि से उचित न मानते हुये यह महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किया कि बिना अपने मित्र, साथियों व ज्येष्ठ की राय के कोई दुसाध्य प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये।[3] चूंकि प्रतिज्ञा ली जा चुकी थी इसलिये उसका सम्पादन भी अब अनिवार्य था अन्यथा क्षत्रिय धर्म का उल्लंघन होता। कृष्ण ने फिर मित्र की रक्षा में[4] युद्ध नियमों के उल्लंघन का विचार प्रस्तुत किया और इसीलिये मौसम की अनिश्चितता के कारण बेखबर जयद्रथ को अर्जुन द्वारा समाप्त करवा के[5] क्षत्रिय वचन का पालन कराने में सफलता प्राप्त की।

युद्ध में आदर्शों का पालन एक सीमा तक ही किया जा सकता हैं जब तक कि अपने पक्ष को कोई विशेष क्षति न हो परन्तु यदि अपने हित की रक्षा अनिवार्य हो जाये तो नियमों और आदर्शों की परवाह नहीं करनी चाहिये। कृष्ण का यह विचार द्रोणाचार्य के संहार

---

1. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 262।*
2. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 276-277।*
3. *चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत : पृष्ठ 211।*
4. *चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत : पृष्ठ 117।*
5. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 280।*

के अवसर पर अभिव्यक्त हुआ, युद्ध के नियमों के अनुसार लड़ाई में द्रोण को हराने वाला कोई भी व्यक्ति नहीं है। हम उससे मुकाबला धर्म को बिना त्यागे नहीं कर सकते। हमारे सामने कोई दूसरा रास्ता नहीं है। केवल एक ही चीज उसे युद्ध से विमुख कर सकती है यदि वह यह सुन लेना कि अश्वत्थामा मर गया है तो वह जीवन के प्रति सारी इच्छा खो देगा और अपने शस्त्र फेंक देगा। इसलिये द्रोण को किसी को बताना चाहिये कि अश्वत्थामा मार डाला गया है।[1] द्रोण इसी नीति से दृष्टद्युम्न द्वारा मारे गये। भीष्म का वध भी कृष्ण के निष्क्रिय प्रतिरोध तथा शिखण्डी की अग्रिम सहायता के कारण हुआ जो नियम की संगति में नहीं था। परन्तु कृष्ण के युद्ध में आदर्शों का स्थान नहीं के सिद्धान्त ने सब क्रियाओं को वैध ठहरा दिया। इसके अतिरिक्त भीष्म और द्रोण के वध के लिये पूज्य होने के कारण जो हिचकिचाहट पाण्डवों में विद्यमान थी उसे कृष्ण ने इस राजनैतिक विचार के प्रतिपादन से समाप्त कर दिया, कोई भी बड़े से बड़े गुरुजन, वृद्ध और सर्वगुण सम्पन्न पुरुष ही क्यों न हो यदि शस्त्र उठाकर अपना वध करको आ रहें हो तो उस आततायी को अवश्य मार डालना चाहिये।[2] ऐसा ही विचार कभी महाबुद्धिमान ब्रहस्पति ने देवराज इन्द्र को प्रदान किया था। इसी प्रकार जब कर्ण बुरी स्थिति में था तो कृष्ण के राजनैतिक विचार ने ही अर्जुन को उस स्थिति में उस पर आक्रमण करने की प्रेरणा प्रदान की। उनके विचार बहुत तर्कपूर्ण और औचित्यपूर्ण थे, कर्ण, यह अच्छा है कि तुम्हें भी न्याय और बहादुरी की बाते याद आने लगीं। अब जबकि तुम कठिनाई में हो तो वास्तव में तुम उन्हें याद कर रहे हो लेकिन जब तुम, दुःशासन, दुर्योधन और शकुनि ने द्रोपदी को सभाभवन में घसीटा था और अपमानित किया था तब तुम उन्हें कैसे भूल गये थे। तुमने धर्म के पुत्र को जुए में जाल में फंसाया जो इस खेल के शौकीन थे लेकिन निपुण नहीं। क्या युधिष्ठर को तेरह वर्ष के बनवास के बाद राज्य वापस देने के लिये इंकार करना ईमानदारी थी। तुमने घूर्त व्यक्तियों के साथ भीम को जहर दिलाने के षणयन्त्र में भाग लिया था। पाण्डवों को सोते हुये जलाने की योजना में तुमने चुपचाप सहमति दी थी। इस सब समय तुम्हारा सारा

---

1. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 288।*
2. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत : पृष्ठ 3044।*

धर्म कहाँ चला गया था। तब तुम्हारा धर्म तुम्हें क्या कह रहा था जब द्रोपदी पर भामत्स्य हाथ उठाया गया था। तुम उस तमाशे को प्रसंन्नतापूर्वक देखते रहे थे। क्या तुमने उसका परिहास उड़ाते हुये नहीं कहा था कि तुम्हारे पतियों न तुम्हें असुरक्षित छोड़ दिया है, जाओं दूसरे पति से शादी कर लो। वह जुबान ऐसा उच्चारण करने में लज्जित नहीं हुई वही आज बहादुरी की बातें करन में इतनी तेज क्यो? जब तुम्हारी एक भीड़ ने नवयुवक अभिमन्यु को घेर कर बेशर्मी से मारा क्या वही वास्तविक बहादुरी थी। बदमाश आदमी ईमानदारी, न्याय और बहादुरी की बात मत कर। तूने उनका कभी सम्मान नहीं किया।[1] अतः कृष्ण ने यह राजनीतिक विचार दिया कि धूर्त व्यक्ति के संहार के लिये नीति अनीति की परवाह नहीं करनी चाहिये। अन्यायी और धर्म विरोधी व्यक्ति पर दया करना अधर्म प्रवृत्ति को उत्तेजना देना है।[2]

जहाँ कृष्ण की चपलता काम न सकी वहाँ उन्होने क्षत्रिय धर्मानुसार भीम, अर्जुन आदि को अपनी-अपनी प्रतिज्ञायें और वचन पूर्ण करने का स्मरण कराया।[3] धृतराष्ट्र के पुत्रों के संहार के अवसर पर वह भीम को बार-बार उसकी प्रतिज्ञा की याद दिला दिया करते। यद्यपि गदायुद्ध में नाभि से नीचे वार करने का नियम नहीं था तथापि दुर्योधन के वध के लिये उन्होंने इसे भी क्षत्रिय प्रतिज्ञापूर्ण करने के संदर्भ में वैध करार कर दिया। कृष्ण, सभा भवन में दुर्योधन की जांघ तोड़ने की अपनी कसम भीम पूरी कर लेगा। थोड़ी देर पूर्व ही आये बलराम ने इस नियम विरुद्ध कृत्य की घोर भर्त्सना करते हुये भीम पर प्रहार करने के लिये अपना अस्त्र उठाये हुये कृष्ण से कहा, 'तुम यह सब देख और सह सकते हो लेकिन मैं ऐसा अनैतिक संघर्ष नहीं देख सकता। कृष्ण ने उन्हें रोककर मित्रता और रिश्तेदारी के राजनैतिक विचार दिये- 'अपनी उन्नति छह प्रकार की होती है- अपनी बुद्धि, मित्र की बुद्धि और मित्र के मित्र की बुद्धि तथा शत्रु पक्ष में इसके विपरीत स्थिति अर्थात् शत्रु की हानि, शत्रु के मित्र की हानि तथा शत्रु के मित्र के मित्र की हानि। अपनी और अपने मित्र की यदि इसके विपरीत परिस्थिति हो तो मन ही मन ग्लानि का अनुभव करना चाहिये और मित्रों की उस हानि के निवारण के

1. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 286।*
2. *व्यथित हृदय : श्री कृष्ण सन्देश, पृष्ठ 62।*
3. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत : पृष्ठ 3035 एवं 3044।*

लिये शीघ्र प्रयत्नशील होना चाहिये।[1] इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञा पूर्ति के राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति की, पाण्डव हमारे मित्र तथा निकटतम सम्बन्धी हैं। वह दुर्योधन के हाथों असहनीय बुराईयों के शिकार रहे। जब सभा भवन में द्रौपदी को लज्जित किया गया था तो उसने गदे से दुर्योधन की जांघ तोड़ देने की बात कही थी, उस दिन से सब जानते हैं। एक क्षत्रिय का धर्म अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करना है। दुर्योधन जानता था कि भीम ने उसकी जांघ तोड़ कर उसे मारने की कसम खाई थी।[2] कृष्ण ने रिश्तेदारी और मैत्री को आदर्शों और नियमों के ऊपर मानने का जो राजनैतिक विचार प्रस्तुत किया। उसने उस युग में एक नवीन प्रकार के संगठन की भावना को जन्म दिया। उनका यह विचार कि रिश्तेदारी और मैत्री के आगे आदर्श और नियमों की उपेक्षा की जा सकती है वास्तव में राजनीति को एक नया मोड़ देने वाला सिद्ध हुआ। यदि वह ऐसा नहीं करता तो युद्ध का परिणाम कुछ और ही होता क्योंकि वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि उसे उचित तरीकों से पराजित नहीं कर सकते थे। धूर्त व्यक्ति युद्ध में अजेय था।[3] इस सम्बन्ध में श्री वी०एस० सुखथान्कर का मत है कि दो गलत बातों से एक सही बात नहीं बनती है ज्यादा उचित नहीं। उनका विचार आदर्शवादी और नैतिक अधिक है व्यवहारिक कम। दुर्योधन वध के संदर्भ में कृष्ण के तर्क राजनीति से ओतप्रोत हैं और 'जैसे को तैसा' के आधुनिक विचार से मेल खाते हैं। कृष्ण का यह राजनैतिक विचार उचित ही नहीं बल्कि व्यवहारिक भी है कि यदि प्रतिद्वन्दी शक्तिशाली और धूर्त हो तो उसका संहार शक्तिबल की अपेक्षा बुद्धिबल से किया जाना चाहिये।

अर्जुन गाण्डीव का अपमान नहीं सह सकते थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो उसकी निन्दा करेगा उसका वह वध कर देंगे। युधिष्ठर द्वारा उसकी निन्दा करने पर अपनी प्रतिज्ञापूर्ति के लिये उनका वध करने पर उतारू हो गये। ऐसी संकटपूर्ण परिस्थिति में कृष्ण ने ही अपने पारदर्शक राजनैतिक विचारों की अभिव्यक्ति से ही स्थिति पर नियंत्रण पाने में पाण्डवों की सहायता की जिससे अर्जुन की प्रतिज्ञा भी पूरी हो सके व साथ ही पाण्डवों पर आया संकट

1. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत : पृष्ठ 4302।*
2. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 294।*
3. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 294।*

भी टल सके ताकि युद्ध की गतिविधियों में किसी प्रकार का विघ्न न उत्पन्न हो। कृष्ण ने कहा, 'अरे तुम यह क्या पागलपन करने जा रहे हो। बड़ों की हत्या तलवार से नहीं, उनके मुँह पर उनकी निन्दा, अपमान कर देना ही उनकी हत्या कर देना हैं।[1]

घटोत्कच्क्ष पर अमोघ शक्ति का प्रहार कराना कृष्ण का बड़े हित की रक्षा में क्रुद्ध स्वार्थ के बलिदान को राजनीतिक विचार था। समस्त पाण्डवों के दुखी होने पर भी कृष्ण बहुत प्रसन्न थे। घटोत्कच्क्ष के मारे जाने से कर्ण के पार इन्द्र प्रदत्त अमोघ शक्ति नहीं रह गयी। अतः अब कर्ण मरा हुआ समझो। यदि कर्ण रणभूमि में इन्द्र की अमोघ शक्ति लेकर खड़ा होता तो इस पृथ्वी तल पर कोई भी पुरुष उसक सामने नहीं खड़ा हो सकता था। कर्ण न अभी घटोत्कच्क्ष का वध किया तबसे कर्ण मुझे युद्ध में मरा हुआ लगता है।[2]

केवल कर्ण से ही नहीं बल्कि अश्वत्थामा के रात्रि अभियान से भी कृष्ण ने पाण्डवों की रक्षा की क्योंकि वे रिश्तेदार व मित्र थे। पाण्डवों के साथ ही साथ उनकी संतति की भी रक्षा की वे उत्तरदायित्व उन्हें ही निभाना पड़ा। अश्वत्थामा ने घास के टुकड़े पर मंत्र मार कर पाण्डवों की संतति का संहार करने के लिये उत्तरा की कोख की ओर भेजा जो कि अभिमन्यु के पुत्र को जन्म देने वाली थी। इससे पाण्डवों की शाखा ही नष्ट हो जाती लेकिन कृष्ण ने बच्चे को माँ के गर्भ में बचा लिया। ये बच्चा परीक्षित था जो युधिष्ठर द्वारा शासक नियुक्त किया गया।[3] समस्त युद्ध में कृष्ण का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक विचार शत्रु को कभी कमजोर न समझने का निरन्तर बना रहा इससे सहयोगियों में प्रतिद्वन्दता की भावना बनी रही। इसीलिये पितृ हत्या एवं निराशा से पीड़ित अश्वत्थामा की गतिविधियों के प्रति वे पहले से ही सतर्क थे। यही कारण है कि वह युद्ध में पाण्डवों को ही बचा कर निकालने में सफल न रहे बल्कि उनकी संतति को भी सुरक्षित करने में सफलता प्राप्त की। यह उनके इस राजनैतिक विचार का जीवित प्रमाण है कि मित्र की प्रत्येक परिस्थिति में अन्तिम समय तक रक्षा व सहायता करनी चाहिये।

---

1. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 202।*
2. *चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत : पृष्ठ 587।*
3. *सी० राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 299।*

युद्धोपरान्त व्यक्त विचार :-

युद्धोपरान्त भी कृष्ण ने अपनी भूमिका द्वारा महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया। वह जानते थे कि महासमर के बाद अनेकों समस्यायें उत्पन्न होती हैं जिन्हें उनके बिना और कोई नहीं सुलझा सकता। कौरव कुल के अवशिष्ट व्यक्तियों के क्रोध को तुष्ट करके सौहार्द स्थापित करना, भीषण विनाश पर पाण्डवों का क्षोभ एवं पश्चाताप समाप्त करके राजसत्ता के प्रति अनुराग उत्पन्न करना व देश में पुनर्वयवस्था व शान्ति स्थापित करना कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रसंग थे कि जिन्हें कृष्ण ने अपने नवीन विचारों से राजनीति के परिवेश को संवारा।

सम्बन्धियों के वध तथा महा जनसंहार के कारण सभी पाण्डवों के हृदय शोकाकुल थे। उन्होने राज्य स्वीकार करने से अस्वीकार कर दिया था।[1] वे अपने कर्तव्य की समाप्ति के बाद अब सन्यास की बातें करने लगे थे। कृष्ण ने ऐसी स्थिति में यह राजनैतिक विचार प्रस्तुत किया कि सन्यास से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और न ही शान्ति।[2] कर्तव्य से भागने पर और भी अधिक दुःख होता है। महासमर में मृत्यु तो स्वभाविक है इसलिये मरों के लिये शोक करने से कोई लाभ नहीं बल्कि अब उनका कर्तव्य जनता के लिये न्याय और दया का शासन देना है, उसी से शान्ति मिल सकती है।[3] इस समय आपके सदृश पुरुष को अन्न एवं जल से अतिथियों को प्रसन्न करना चाहिये और दरिद्र मनुष्यों को उनकी मुँह मांगी वस्तु दे संतुष्ट करना चाहिये। जो होना था वही हुआ इसके लिये आपको शोक करना उचित नहीं है। युद्ध में जो मारे गये है आपके शोक करने पर भी आप उन्हें कदापि नहीं देख सकते। जो शासक न्याय पूर्वक शासन करता है उसे मानसिक शोक में नहीं फंसना पड़ता। कृष्ण का यह राजनैतिक विचार कि मानसिक शोक राजनीति में सभी युगों व परिस्थितियों के लिये महत्वपूर्ण है। कृष्ण ने इसी संदर्भ में यह विचार भी अभिव्यक्त किया जो प्रकृतिबद्ध है और

---

1. *कि0 घ0 मशरूवाला : राम और कृष्ण, पृष्ठ 110।*
2. *चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत : पृष्ठ 29।*
3. *चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत : पृष्ठ 31।*

कार्य हो चुका है उस पर शासक को शोक और पाश्चाताप नहीं करना चाहिये। कृष्ण के अनुसार जो राजा मन के साथ युद्ध करके उस पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता उसे हर और दुःख ही दुःख दिखाई पड़ता है।[1]

युद्ध की समाप्ति तो हो गई परन्तु कौरव संतति के जन्मदाता धृतराष्ट्र और गान्धारी से अभी जीवित है। अतः कृष्ण जानते थे कि बिना उनके सहयोग के न तो वातावरण सामान्य हो सकता है और न पाण्डवों को शासन में सब वर्गों का सहयोग ही। इसलिये उन दोनों के क्रोध की पराकाष्ठा को जानते हुये भी वे उन दोनों से पाण्डवों की भेंट कराने के लिये पहुँचे।[2] कृष्ण के इन प्रयासों की झलक आधुनिक जगत में किये गये यूरोप के महान राजनीतिज्ञ बिस्मार्क के प्रसासों में मिलती है जबकि वह पराजित देश विशेष रूप से आस्ट्रिया को हराने के बाद भी अभिन्न मैत्री बंधन में बांधने में सफल हुआ। भीम और अर्जुन दोनों ही धृतराष्ट्र व गांधारी के भयंकर क्रोध के पात्र थे। अतः जब भीम धृतराष्ट्र से युद्ध के बाद मिलने गये तो कृष्ण ने हल्के से भीम को धक्का देकर अलग कर दिया और एक लोहे की मूर्ति को धृतराष्ट्र के आगे कर दिया। धृतराष्ट्र ने उसे इतनी जोर से जकड़ा कि व टुकड़े-टुकड़े हो गई। कृष्ण ने अन्ध राजा से कहा कि मैं जानता था कि ऐसा ही होगा इसलिये मैंने पहले ही बर्बादी को रोकने का प्रबन्ध कर लिया। तुमने भीमसेन को नहीं मारा। बल्कि एक लोहे की मूर्ति को तोड़ा है जिसे मैंने उसके बदले में तुम्हारे आगे रख दिया था।[3] अर्जुन गांधारी के क्रोध की शक्ति को जानते था इसलिये वे कृष्ण के पीछे खड़े हो गये।[4] यह सब कृष्ण ने वंश के प्रमुख वयोवृद्ध व्यक्तियों के क्रोध को शान्त करने के लिये किया ताकि परिस्थितियाँ सामान्य हो सकें। भीम और अर्जुन पर उतारे क्रोध के बाद कृष्ण ने धृतराष्ट्र से भविष्य में पाण्डवों से ही चलने वाला है। आपको और गांधारी देवी को पिण्डा पानी तथा पुत्र से प्राप्त होने वाला सारा फल पाण्डवों से ही मिलने वाला है। आप और यशस्वी देवी गांधारी कभी पाण्डवों की

---

1. *चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत : पृष्ठ 2।*
2. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत : पृष्ठ 4314।*
3. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 300।*
4. *सी0 राजगोपालाचारी : महाभारत : पृष्ठ 302।*

बुराई करने की बात न सोचें। इन सब बातों तथा अपने अपराधों का चिंतन करके आप पाण्डवों के प्रति कल्याण भावना रखते हुये उसकी रक्षा करें।[1] गांधारी देवी के क्रोध को शान्त करने के लिये पृथक से उन्हें उनके वचनों का स्मरण कराते हुये पाण्डवों की रक्षा की प्रार्थना की। इस संसार में तुम्हारी जैसी तपोबल सम्पन्न स्त्री दूसरी नहीं है। तुम्हें याद होगा कि उस दिन सभा में मेरे सामने ही तुमने दोनों पक्षों का हित करने वाला धर्म और अर्थयुक्त वचन कहा था किन्तु तुम्हारे पुत्रों ने नहीं माना.......तुम्हारी वही बात आज सत्य हुई है, ऐसा समझ कर तुम मन में शोक न करो। पाण्डवों के विनाश का विचार तुम्हारे मन में कभी नहीं आना चाहिये.......गांधारी को कितने ही कारण बताकर युक्त युक्त वचनों द्वारा आश्वासन दिया- 'धीरज बँधाया।[2] अब तुम्हारा गुस्सा शान्त हो जाना चाहिये। वास्तव में गांधारी और धृतराष्ट्र से पाण्डवों की युद्धपरान्त भेंट कराके कृष्ण ने एक ईमानदार राजनीतिज्ञ की भाँति परिस्थितियों को सामान्य बनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

भीष्म[3] तथा धृतराष्ट्र दोनों से ही पाण्डवों को राजनीति की शिक्षा का निर्देशन देकर कृष्ण ने शत्रुपक्ष के आचार्यों के प्रति सम्मान प्रकट किया उससे भी स्थिति सामान्य हुई। लेकिन उससे अधिक कृष्ण का यह राजनैतिक विचार महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि शत्रुपक्ष के विद्वान आचार्यों से भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनका सत्कार करना चाहिये। यद्यपि स्वयं क्रूर वचन तथा उत्तंग ऋषि के श्राप के भागीदार बनें।[4] तथापि कृष्ण पाण्डवों के प्रति धृतराष्ट्र के क्रोध को शान्त कराके युधिष्ठिर को राजनीति की शिक्षा प्रदान कराने में सफल हुये- ''भारत नन्दन तुम्हें शत्रुओं के, अपने यदासीन राजाओं के तथा मध्यस्थ पुरुषों के मण्डलों का ज्ञान रखना चाहिये। युधिष्ठिर तुम इस मण्डल को अच्छी तहर जानों क्योंकि राज्य की रक्षा के सन्धि विग्रह आदि छः उपायों का उचित उपयोग इन्हीं के अधीन है। कुल श्रेष्ठ राजा को चाहिये कि वह अपनी वृद्धि, क्षय और स्थिति का सदा ही ज्ञान रखे। महाबाहु पहले

---

1. *हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पादक) : महाभारत : पृष्ठ 4315।*
2. *हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पादक) : महाभारत : पृष्ठ 4316।*
3. *कि० घ० मशरूवाला : राम और कृष्ण, पृष्ठ 110।*
4. *हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पादक) : महाभारत : पृष्ठ 4419।*

राजप्रधान बारह और मंत्रीप्रधान साठ-इन बहत्तर का ज्ञान प्राप्त करके सन्धि विग्रह ज्ञान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय इन छः गुणों का उपयोग किया जाता है। कुन्तीनन्दन जब अपना पक्ष बलवान तथा शत्रु का पक्ष निर्बल जान पड़े। उस समय शत्रु के साथ युद्ध छेड़कर विपक्षी राजा को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। भारत, राजा का सदैव द्रव्यों को महान संग्रह करते रहना चाहिये। जब वह शीघ्र ही शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ हो उस समय उसका जो कर्तव्य हो उसे वह स्थिरतापूर्वक भलीभांति विचार ले। भारत, यदि अपनी विपरीत अवस्था हो तो शत्रुओं को कम उपजाऊ भूमि, थोड़ा सोना और अधिक मात्रा में जस्ता, पीतल आदि धातु तथा दुर्बल मित्र एवं सेना देकर उसके साथ सन्धि करें। अपने राज्य की रक्षा करने वाले राजा की यत्नपूर्वक शत्रुओं के साथ उपर्युक्त बर्ताव करना चाहिये परन्तु अपनी वृद्धि चाहने वाले नरेश को शरण में आये हुये सामन्त का वध कदापि न करना चाहिये। कुन्ती कुार जो समूची, पृथ्वी पर विजय पाना चाहता हो वह तो कदापि उस (सामान्त) की हिंसा न करे। तुम अपने मंत्रियों से सदा शत्रुगणों में फूट डालने की इच्छा रखना यदि किसी भी उपाय से सन्धि न हो तो मुख्य साधन को लेकर विपक्षी पर युद्ध के लिये टूट पड़ें। इस क्रम से शरीर चला जाये तो भी वीर पुरुष की मुक्ति ही होती है। केवल शरीर दे देना ही उसका मुख्य साधन है।........तुम्हें सन्धि और विग्रह पर भी दृष्टि रखनी चाहिये। शत्रु प्रबल हो तो उसके साथ सन्धि करना और दुर्बल हो तो उसके साथ युद्ध छेड़ना ये सन्धि और विग्रह के दो आधार हैं। इनके प्रयोग के उपाय भी नाना प्रकार के है इनके प्रकार भी बहुत हैं अपनी द्विविधावस्था - बलाबल का अच्छी तरह विचार करके शत्रु से युद्ध या मेल करना उचित है। यदि शत्रु मनस्वी है और उसके सैनिक हष्टपुष्ट एवं सन्तुष्ट हैं तो उस पर सहसा घाव न करके उसे परास्त करने का दूसरा उपाय सोंचे। शत्रु पर चढ़ाई करने वाले शास्त्र विशारद राजा को अपनी और शत्रु की विविध शक्तियों का भलीभांति विचार कर लेना चाहिये। शत्रुओं के विनाश के लिये राजा अपनी सेना रूपी नदी का प्रयोग करें। युद्ध के समय युक्ति करके सेना का शकटपद्य अथवा बज्र नामक व्यूह बना लें। गुप्तचर द्वारा शत्रु की जाँच पड़ताल करे अपनी सैनिक शक्ति का भी निरीक्षण करें फिर अपनी या शत्रु की भूमि पर युद्ध आरम्भ करें। राजा

को चाहिये कि वह पारितोषिक आदि के द्वारा सेना को सन्तुष्ट रखे और उसमें बलवान मनुष्यों की भर्ती करे। अपने बलाबल को अच्छी तरह समझकर सम आदि उपायों के द्वारा सन्धि या युद्ध के लिये उपयोग करें। नृप श्रेष्ट भीष्म जी, श्री कृष्ण तथ विदुर ने उन्हें सभी बातों का उपदेश दिया। मेरी भी तुम्हारे ऊपर प्रेम है। जो राजा एक हजार अश्वमेघ यज्ञों का अनुष्ठान करता है अथवा दूसरा जो नरेश धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करता है उन दोनों को समान फल प्राप्त होता है।[1] क्रोध के स्थान पर धृतराष्ट्र का प्रेमपूर्ण राजनीतिक निदेर्शन कृष्ण के व्यवहारिक राजनैतिक विचारों का ही परिणाम था।

युद्ध में कृष्ण मूर्छित तथा कई बार घायल भी हुये। भूरिश्रवा, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन के वध में कृष्ण ने पाण्डवों को प्रेरित किया। कृष्ण पाण्डवों को कौशलपूर्वक कार्य करने की सलाह देते और प्रोत्साहित करते और आवश्यक होने पर उसे अपने पर भी बाध्य करते। यही नहीं समय-समय पर वह पाण्डवों को सान्त्वना और ज्ञानबोध भी देते रहे। अठारह दिनों के पश्चात जब युद्ध समाप्त हुआ तो युधिष्ठिर को हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठाकर ही कृष्ण द्वारिका लौटे।[2]

महाभारत युद्ध में उनकी राजनीतिक भूमिका का अतिशय कपटपूर्ण होने का आरोप लगाया जाता है। युधिष्ठिर से मिथ्या भाषण कराया जाना सामान्य रणनीति या कूटनीति के विचार से कोई निन्दनीय बात नहीं। जिस अवस्था में अश्वत्थामा के मारे जाने की अफवाह उड़ायी गई थी वह अवस्था ऐसी थी कि द्रोणाचार्य स्वयं धर्मयुद्ध के विरुद्ध उन लोगों पर अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे जो अस्त्र चलाना नहीं जानते थे। यह स्पष्ट दिखायी देता था कि द्रोणाचार्य का वध न हुआ तो सारी पाण्डव सेना का संहार हो जायेगा। इसीलिये मिथ्या भाषण करके पाण्डवों को बचा लेना धर्म ही था। कृष्ण ने उन्हें यह राजनैतिक विचार दिया कि मनुष्य अपनी सामान्य मानवीय शक्ति से आपातकाल में किस प्रकार अपनी रक्षा करें। किस प्रकार सामान्य सत्य की को समझकर महान सत्य की रक्षा करें। जहाँ आपत्काल में मनुष्य

---

1. *हनुमान प्रसाद पोद्दार सम्पादक : महाभारत : पृष्ठ 6398-6399।*
2. *डा0 सरोजनी कुलश्रेष्ठ : हिन्दी साहित्य में कृष्ण, पृष्ठ 13।*

धर्म की रक्षा के लिये झूठ भी बोल सकता है। कृष्ण आदर्श सत्यवादी थे। कृष्ण ने जो भीष्म जी को घिरवाकर मरवाया उसमें भी कृष्ण ने कोई अनुचित कार्य नहीं किया क्योंकि अर्जुन और भीष्म का वह द्वन्द्व नहीं था, संग्राम हो रहा था जहाँ दोनों ओर की सेनायें एक दूसरे के केवल संहार कर रही थीं। उससे धर्मयुद्ध के नियमों में बाधा नहीं पड़ती। शिखण्डी को आगे करके पाण्डव इसलिये लड़ रहे थे कि उन्हें विदित था कि शिखण्डी पर भीष्म बाण नहीं छोड़ेंगे, पर युद्ध में इसे भी अनुचित नहीं कह सकते।[1] समस्त महाभारत युद्ध में कृष्ण की भूमिका में इस प्रकार स्थान-स्थान पर राजनीतिक विचारों का भण्डार है जो आदर्श के स्थान पर व्यवहारिक परन्तु सर्वहिताय उद्देश्य पर अवलम्बित है।

---

1. *डा० लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृष्ठ 20-22।*

अध्याय सप्तम्

।। उपसंहार ।।

अध्याय सप्तम्

।। उपसंहार ।।

महाभारत विश्व के अमूल्य ग्रन्थों में से एक है। उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान का विश्व कोष माना जाता है। महाभारत कौरव-पाण्डवों के युद्ध की गाथा है, किन्तु उसके संचालक कृष्ण हैं। सारथी बनकर वे एक रूपक बन गये हैं। सारथी रथ का संचालन करता है, किन्तु महाभारत के नायक अुर्जन के सारथी बनकर कृष्ण महाभारत युद्ध के संचालक बन गये हैं। आदि पर्व में कृष्ण के जन्म के प्रसंग में उनको जगत का कर्त्ता, स्वामी, ब्रह्म आदि कहा गया है। आदि पर्व में ही कुन्ती ने कृष्ण को अनाथों का नाथ कहा है। राजसूय यज्ञ के प्रसंग में जब आगत राजाओं के अभ्यर्थना का प्रसंग उठा, तो युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा कि सर्वप्रथम पूजा के योग्य कौन है, तब उन्होंने यही निर्णय दिया कि तेज, बल,पराक्रम आदि से कृष्ण ही तीनों लोकों में प्रथम पूजनीय हैं। इसी प्रसंग में भीष्म पितामह ने कृष्ण की महिमा का वर्णन किया है और उन्हें सब लोकों में श्रेष्ठ बताया है। संजय ने भी धृतराष्ट्र से कृष्ण की महिमा का वर्णन किया है। इस प्रकार महाभारत में सर्वत्र कृष्ण की दिव्य महिमा व्याप्त है।

कृष्ण के राजनीतिक विचार प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, मार्क्स अथवा कौटिल्य के विचारों के सदृश न तो क्रमबद्ध ही है और न राजशास्त्र की दुरूह जटिलताओं से सम्बद्ध। वस्तुतः उनके राजनीतिक विचार व्यवहारिक धरातल पर टिके होने के कारण सैद्धान्तिकता के आवरण से मुक्त हैं।[1]

1. *डॉ० गोवर्धन भट्ट : भारतीय दर्शन की रूपरेखा*

बाल नेता के रूप में व्यक्त विचार-

बालनेता के रूप में ही उन्होंने न्याय और सत्य की स्थापना व रक्षा के विचारों को जन्म दिया जिसका क्रमिक विकास उनके जीवन के विभिन्न चरणों मे होता रहा। अत्याचार व अत्याचारी के उन्मूलन का राजनीतिक विचार भी उनके इसी काल की देन था। सर्वहिताय अथवा जनकल्याण का शासन श्रेष्ठ है चाहे फिर वह कोई भी तन्त्र क्यों न हो -कृष्ण का यह राजनीतिक विचार उनके बाल नेतृत्व में निहित था।

कृष्ण ने विभिन्न क्रियाओं यथा मल्लविद्या, गौचारण, अन्योन्य बालोचित खेलों के द्वारा गोपों में संगठन की भावना उत्पन्न की। गोपों के बाल नेता के रूप में उन्होने अत्याचारी कंस द्वारा भेजे गये अनेकों प्रतिनिधियों का वध करके[1] अत्याचार के विरोध तथा अधिकारों के लिये संघर्ष करने का विचार प्रस्तुत किया। कंस का संहार उनके बालोचित व्यक्तित्व की राजनीतिक अविव्यक्ति थी। उन्होने कंस का वध कर मथुरा में नीति एवं न्याय का शासन स्थापित किया। उनके द्वारा की गयी मथुरा की राजक्रांति तत्कालीन राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति का शंखनाद था। उनका यह प्रयास तत्कालीन अधर्मपूर्ण सार्वभौम सत्ता के लिए एक चुनौती था।

कृष्ण के समग्र ऐश्वर्य या शक्ति सत्ता का दर्शन उनकी बालकाल तथा किशोरावस्था की अतिमानवीय लीलाओं एवं चरित्र में होता है।[2] कृष्ण ने तत्कालीन प्रचलित विचारों में भी क्रान्ति ला दी। जो शूद्र और वैश्य समाज में हेय और तिरस्कृत थे कृष्ण नें उन्हीं के बीच में बाल लीलायें सम्पादित की। कृष्ण नें उन्हे अपना लिया और उनके कोमल हृदयों में भक्तिभाव की भावना का संचार किया। चार्तुयवर्ण की व्यवस्था उन्होने अपने अधिकार युक्त उपदेश से फिर से बांध दी और निवृत्तपरायण मनुष्यों को उनके संसारिक कर्तव्य एवं प्रवृत्ति परायण

---

1. *महाभारत : (सम्पादक) हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ-180,195*
2. *व्यथित हृदय (सम्पादक) : श्रीकृष्ण सन्देश, पृष्ठ-18-20*

मनुष्यों को पारलौकिक कर्तव्य समझाये। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में संगठित कर दिया।[1]

कृष्ण की बालोचित लीलाओं के पीछे धर्मसंस्थापन का भाव निहित था। उन्होने राजनीति को धर्म, सुख, शान्ति मानवता के गंगा जल से सिंचित किया। कृष्ण का अपौरूषेय तथा महामानव का रूप अविकल्प रूप से उद्भाषित रहता है चाहे राजनेता के रूप में, चाहे योद्धा के रूप में, चाहे संगठन कर्ता के रूप में अथवा समाज सुधारक के रूप में। बाल नेता के रूप में कृष्ण के राजनैतिक विचार निर्भीकता के प्रदर्शन, जोखिमपूर्ण कृत्य करने तथा संगठनात्मक शक्ति की महत्ता की परिधि में अभिव्यक्ति थे।

युवा नेता के रूप में व्यक्त विचार -

एक दृढ़ विचारवाले, पुष्ट शरीरवाले और स्वस्थ मन तथा संकल्पनिष्ठ आत्मावाले ब्रह्मचारी में जो-जो विशेषतायें होनी चाहिये, वे कृष्ण में विद्यमान थीं। एक युवा नेता के रूप में कृष्ण क्षत्रिय और पौरुष में अतुलनीय थे जिनका वर्णन मैगस्थनीज ने ग्रीकों को भारतीय हरक्युलिस के रूप में दिया था।[2] कृष्ण का शारीरिक बल अतुलनीय था जिससे उन्होंने अनेक त्रासदायक एवं हिंसक जन्तुओं का वध किया। समय आने पर उन्होंने युद्ध-कौशल और रणनीति का सागोंपाग अध्ययन किया। उनके समक्ष अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष ही एकमात्र मार्ग था। यही कारण था कि एक क्रमिक श्रंखला युद्धों और उनमें विजय की उन्हें युवा नेता के रूप में निभानी पड़ी। कंस के सब भाइयों अर्थात सुनामा और अक्षैहिणीपति राजा सूरसेन का उनके समस्त सेना सहित नाश किया। स्वयंवर के बीच समस्त राजाओं को पराजित कर गान्धार राज्य की कन्या के साथ विवाह किया। शिशुपाल का नाश किया। शाल्व से रक्षित सोम नामक दैत्यपुरी को अपने अस्त्रों के बल नष्ट करके उसे समुद्र में डुबो दिया। अंग, बंग,

---

1. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृष्ठ-28*
2. *पॉल मेसन : एन्सियन्ट इण्डिया एण्ड सिविलाईजेशन, पृष्ठ-82*

कलिंग, मालव, त्रगर्त, पाण्डय, चोल, बाटधान, कम्बोज, मृदुगल, मगद, काशी, अयोध्या, वत्स्य, गर्ग्य, करूप, पौण्ड्र, अवन्ती, दाक्षित्य, कैवल्य, दार्दरक्त, पिशाच, उसरिका, काश्मीर, और दरद देशीय वीर और बहुत सी दिशाओं से आये हुये योद्धा तथा खग एवं शक देशीय राजाओं तथा सेना सहित यवन राज्य को पराजित किया। उन्होने मकर, उरग आदि जलजन्तुओं से पूर्ण समुद्र में प्रवेश कर वृष्णि को पराजित किया। पाताल तल पर रहने वाले पंचजन्य नामक दैत्य को मारकर पांचजन्य नामक खड्‌ग पाया। राजाओं में कोई भी ऐसा राजा नहीं जिसे कृष्ण ने न जीता हो।[1] यह सब युद्ध एवं विजय, अत्याचार के उन्मूलन और धर्म, सत्य, व न्याय की स्थापना के लिये थे क्योंकि सभी स्थानों को हड़पने या राज्य विस्तार की नीति का पालन न करके कृष्ण ने उदार, सहष्णु राजनीतिक विचारों और आदर्शों की स्थापना की। राजसत्ता के मोह के अभाव में वे स्थानीय क्षेत्रों को जनहिताय प्रशासन देने के पक्ष में रहे। वस्तुतः युवा नेता के रूप में उनका समस्त जीवन युद्धों और संघर्षो में ही व्यतीत हुआ।

भोगविलाष में लिप्त शक्तिशाली राजाओं में जो अनाचार फैला रहता था उसके विरुद्ध धर्मयुद्ध की विशाल चुनौती प्रदान करना ही कृष्ण के युवा नेता के स्वरूप का मूल्यांकन है। उनके अनुसार अन्यायी और धर्म विरोधी व्यक्ति पर दया करना अधर्मवृत्ति को उत्तेजित करना था, इसीलिए युवा नेता के रूप में उनका स्वरूप भी अत्यधिक उग्र विध्वंसक और विप्लवकारी रहा। प्रागज्योतिषपुर और मगध के शासको का अन्त कृष्ण के इसी युवा व्यक्तित्व की विचारधाराओं और नीतियों का परिणाम था। कृष्ण का सारा जीवन केवल संहार में ही नही व्यतीत हुआ। नित्य नये शत्रुओं से सामना करना और उन्हें स्वर्ग का रास्ता दिखा देना जिस प्रकार यह उनका नित्य कार्यक्रम था उसी प्रकार धर्म का प्रचार करना भी था। उस समय उनके समान जिस प्रकार कोई शूरवीर योद्धा नहीं था उसी प्रकार कोई वैसा धर्मविद् और धर्मोपदेशक भी नहीं था। कृष्ण राजनीति में धर्म संस्थापक थे और उन्होने राजनीति में

---

1. *चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा : हिन्दी महाभारत (द्रोणपर्व), पृष्ठ-32*

धार्मिक क्रान्ति करके सत्य एवं न्याय के सिद्धान्तो की स्थापना की।[1] धर्म की मान्यता जनहिताय एवं सर्वहिताय पर अवलम्बित थी। राजनीति में धर्म का सामंजस्य ही सर्वहित था, इसी सर्वहित की प्राप्ति अथवा स्थापना के लिए वे किसी भी माध्यम को उचित व धर्मानुकूल मानने को तत्पर थे। इसी लिए युवा नेता के रूप में अभिव्यक्त उनके राजनीतिक विचार साध्य पर केन्द्रित थे न कि साधन पर । इस काल में उन्हे जितने भी संघर्ष करने पड़े वे सभी व्यापक कल्यान हेतु थे।

प्रौढ़ नेता के रूप में व्यक्त विचार :-

वैसे तो वाल्यावस्था से ही राजनीतिक विचारों का क्रमिक विकास उनके युवा और प्रौढ़ नेतृत्व रूप में दृष्टिगोचर होता है लेकिन फिर भी प्रौढ़ावस्था में वे राज्य के प्रबन्ध तन्त्र के प्रति अपने विचारों को फिर से संजोने लगे थे। बालनेता के रूप में उन्हे राज्य तंत्र के स्वेच्छाचारी स्वरूप से ही विरोध था ओर गणराज्य अथवा संघराज्य के स्वरूप को श्रेष्ठ मानते थे परन्तु नारद से हुये संवाद में वह यह विचार व्यक्त कर ही देते हैं कि प्रशासन तन्त्र का कैसा ही स्वरूप क्यों न हो यदि वह जनहित के लिये केन्द्रित और न्याय पर आधारित है तो उचित हे फिर वह राजतन्त्र हो चाहे गण्तन्त्र ।

कृष्ण एक आदर्श पुरूष थे। उन्होने अपने कार्यो तथा विचारों के द्वारा महान आदर्शो की स्थापना की। पॉच हजार वर्ष पूर्व ठीक आजकी ही तरह विश्व के क्षितिज पर भादों की अंधेरी तमिस्त्रा अपनी निगूढ कालिमा के साथ छा गयी थी। तब भी भारत में जन था, धन था, शक्ति थी, साहस था पर एक अकर्मण्यता भी थी जिससे सब कुछ अभिभूत, मोहाच्छन्ना और तमसावृत था। महापुरूष अनेक हुये हैं पर लोक नीति, और अध्यात्म को समन्य के सूत्र में गूंथ कर ''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'' का पाच्वजन्य फूँकने वाले

---

1. *लक्ष्मण नारायण गर्दे : सरल गीता, पृष्ठ–28*

कृष्ण ही थे। राजनीति और समाज नीति, धर्म और दर्शन, सभी क्षेत्रों में कृष्ण की अद्‌भुत मेघा एवं विकसित प्रतिभा के दर्शन होते हैं। एक और वे महान् राजनीतिज्ञ, क्रान्ति-विद्याता तथा धर्म पर आघृत नवीन साम्राज्य के स्त्रष्टा के रूप में दिखायी पड़ते हैं तो दूसरी और धर्म, अध्यात्म तथा दर्शन के सूक्ष्म चिन्तक एवं विवेचक के रूप में।

उनके समय में भारत गांधार से लेकर सह्‌याद्रि पर्वतमाला तक क्षत्रिय राजाओं के छोटे छोटे स्वतंत्र किन्तु निरंकुश राज्यों में विभक्त हो चुका था। इन्हे एकता के सूत्र में पिरोकर समग्र राष्ट्र को एक सुदृढ़ शासन व्यवस्था के अन्तर्गत लाने वाला कोई नहीं था। एक चक्रवर्ती सम्राट के न होने से विभिन्न माण्डलिक राजा नितान्त स्वेच्छाचारी तथा प्रजापीड़क हो गये थे। मथुरा का कंस, मगध का जरासंध, चेदि देश का शिशुपाल तथा हस्तिनापुर का दुर्योधन, सभी दुष्ट, विलासी तथा दुराचारी थे। श्री कृष्ण ने अपनी अद्‌भुत चातुरी, नीतिमत्ता तथा कूटनीतिज्ञता से इन सभी अनाचारियों का मूलोच्छेद किया तथा युधिष्ठिर के रूप में धर्मराज एवं अजात-शत्रु का विरूद धारण करने वाले एक आदर्श राजा का अखण्ड चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य स्थापित किया। भारत की अखण्डता, भारतीय आत्मा की मुक्ति भारतीय मानव समाज के सनातन नैतिक और अध्यात्मिक आर्दशों की विजय और इस महान समुज्जवल आदर्श के आधार के आधार पर भारतीय महाजति का संगठन यह था उन लीलामय का जीववृत्त, उनके समस्त कर्म और सम्पूर्ण चेष्टाओं का लक्ष्य। उन्होने चाहा था भारतवर्ष को महाभारत के महामिलन का क्षेत्र बनाकर समस्त जगत के सामने इस महामिलन का आदर्श उपस्थित करना। आसुरी प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्दता-सीभत्स संग्राम और कलह, अनार्य, हिंसा, घृणा और भय दुर्बल पर प्रबल का अत्याचार, अवनत के प्रति उन्नति की अवज्ञा, सरलचित्त, अशिक्षित, जन साधारण के प्रति प्रभुत्व का भी कूटबुद्धि शिक्षित सम्प्रदाय का प्रवंचना के प्रतिकूल सभी प्रकार के दोषों को सभी प्रकार के नर नारियों के साधन क्षेत्र तथा चित्रक्षेत्र दूर हटाकर उनकी जगह प्रेम और सहानुभूति, सेवा और सहयोग, यज्ञ और त्याग,

साम्य और मैत्री,करूणा और मुदिता तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समन्वय की नींव पर महाभारतीय सम्यता का विशाल प्रासाद निर्माण करने के लिए उन महामानव ने अपनी शक्ति को नियोजित किया था। इस महाभारत के संगठन के लिए उन्होने भारत वर्ष की समस्त जातियों, सभी समाजों, सभी सम्प्रदायों तथा सभी राष्ट्रों को आमंत्रित किया था । उनकी इच्छा थी कि भारत की समस्त शक्तियों का मिलन, आर्य एवं अनार्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, राष्ट्रीय शक्तियों का, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का, वेदवादी एवं वेदविमुख सम्प्रदायों का, तपस्वियों और याज्ञिकों का, प्राण से प्राण मिलाकर मिलन, राष्ट्रीय, नैतिक, समाजिक एवं अध्यात्मिक सब प्रकार के मतों का साम्यसूत्र निर्मित करके एक महामानवता के आदर्श पर सभी प्रेरित हों।

कृष्ण ने यथाशक्य युद्ध का विरोध किया, उन्होने न तो युद्ध को राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का एक मात्र अनिवार्य उपाय माना और न उसमें कूद पड़ने के लिए किसी को भी उत्साहित ही किया। यहां तक कि वैयक्तिक मानापमान की परवाह किये बिना वे स्वयं पाण्डवों की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये। यह सत्य है कि इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर सके, परन्तु इससे संसार को यह तो ज्ञात हो ही गया कि कृष्ण शन्ति स्थापना के लिए इतने उत्सुक थे तथा युद्ध के कितने विरोधी थे। उन्होने स्वयं कहा था कि पृथ्वी को युद्ध की महाविभिषिका से बचा देखना चाहते हैं। संसार के लोगो को सत्य और न्याय का वास्तविक ज्ञान कराने में ही कृष्ण की अपूर्व दूरदर्शिता तथा मेधा का परिचय मिलता है। युद्ध होना ही है जब यह निश्चित हो गया तो कृष्ण की विचारधारा भी इसी के अनुसार बन गयी। उन्होनें अत्याचार के शमन और दुष्टों को दण्ड देने के लिए किये जाने वाले युद्ध को क्षत्रिय वर्ण के लिए स्वर्ग का खुला हुआ द्वारा बताया तथा अर्जुन को यह निश्चय करा दिया कि आततायियों को मार डालना ही धर्म है। रणक्षेत्र में उपस्थित होते ही अर्जुन ने जिन क्लीव-भावों का संचार हुआ उन्हे अनार्यजुष्ट, अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर बताते हुये कृष्ण ने

अर्जुन को विगत-ज्वर होकर युद्ध करने की प्रेरणा की। वास्तव में छात्र-धर्म का यही प्रकृत रूप था जिसे कृष्ण ने अपनी ओजस्वी वाणी तथा प्रभविष्णु-शैली में उपस्थित किया। आज हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी कृष्ण की वह ओजस्वी शिक्षा, जन-मन की निराशा, ग्लानि तथा दौर्बल्य को दूर करती है। कृष्ण की सर्वोपरि विशेषता उनकी राजनीतिक विज्ञक्षणता और नीतिज्ञता है। राजनीति के प्रति उनका यह अनुराग किसी स्वार्थ-भावना से प्रेरित नहीं था और न ही उनकी राजनीतिक विचाराधारा किसी संकुचित राष्ट्रवाद के घेरे में आबद्ध थी। उस युग में तो आज जैसा राष्ट्रवाद जन्मा ही नहीं था। कृष्ण का राष्ट्रवाद तो लोक-कल्याण, जनहित तथा सब प्रकार की अराजकता, अन्याय तथा शोषण की प्रवृत्ति को समाप्त कर धर्म-राज्य की संस्थापना के लक्ष्य को लेकर ही चला था। सम्पूर्ण मानव-जाति ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के भाव को लेकर ही उन्होने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उन्होंने अपने जीवन में जहां अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया वहाँ उन्होंने सामयिक सामाजिक समस्याओं की भी अवहेलना नहीं की।

युद्ध में उनकी कोई रूचि नहीं थी। किसी के साथ संघर्ष करने में उनको उल्लास नहीं था। सर्वत्र, समस्त विषयों में वे प्रेम के पक्ष से, शान्ति के पक्ष से, अहिंसा और सत्य के पक्ष से अपौरूषेय देववाणी और सुचिपूर्ण विचार की सहायता से मनुष्य की अन्तर्रात्मा को जगाकर विश्वमान के महामिलन का महान आदर्श प्रचार करने में लगे थे। कृष्ण ने अपने विराटसमुदाय सार्वभौम आदर्श की स्थापना के लिये प्रधानतः इसी प्रकार की गठनमूलक पद्यति को अपनाया था। प्राणीमात्र को एक अच्छे सूत्र में गूंथ देना, सम्पूर्ण जगत में एक सत्य, प्रेम, पवित्रता के राज्य की स्थापना करना, यही था कृष्ण के अपने जीवन साधन का लक्ष्य और सहज से सहज उपायों द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करना।

भारत में सम्यक्‌ऐक्य की स्थापना के द्वारा विश्व में एक्य-प्रतिष्ठा का पथ प्रस्तुत करना ही उनका आन्तरिक अभिप्राय था। इसके लिये उन्हों ने नाना प्रकार के संगठन

मूलक उपायों का अवलम्बन किया था, शान्ति के मार्ग का ही अनुसन्धान किया था। यथा सम्भव प्रेम, मैत्री, सुपरामर्श व सुशिक्षा पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सौहार्द स्थापना की ही चेष्टा उन्होंने सर्वत्र की थी परन्तु श्रीकृष्ण की यह सामनीति सर्वत्र सफल नहीं हो सकी। अहिंसा, प्रेम और शान्ति के मार्ग से समग्र भारत में एक्य की प्रतिष्ठा और एक अखण्ड धर्म राज्य की स्थापना में प्रबल विघ्न था।[1] श्रीकृष्ण का आदर्श और समाज के समस्त स्तरों में उसका प्रचार उनकी स्वार्थ दृष्टि में नितान्त ही विप्लवात्मक था। उनकी धारणा ही हो गयी थी कि कृष्ण हमें हमारी शक्ति और कूटबुद्धि के द्वारा प्राप्त किये हुये ऐश्वर्य, प्रभुत्व, मान सम्मान और निग्रहानुग्रह के सामर्थ्य से वंचित करके एक विराट आदर्श के बहाने सारे देश में अपना प्रभुत्व फैलाना चाहते थे। इसलिये वे पहले से ही श्रीकृष्ण के प्रभाव को घटाकर कृष्ण के आदर्श को देश से निकाल फेंकने के लिये कमर कसकर तैयार हो गये।

उनकी इन कुचेष्टाओं से कृष्ण का प्रभाव घटा नहीं। अनेक दलों के लोगों ने उनके अनुगत होकर उनके आदर्श को अपनाया । कृष्ण विरोधी प्रबल शक्तियों के भय से या उनके साथ संघर्ष की आंशका से वे आदर्श का त्याग करने को तैयार नहीं थे। कृष्ण के आदर्श प्रचार के लिये, धर्म के लिये मानवोचित जीवन दर्शन के लिये, जाति और समाज के एक्य, शान्ति और सर्वागीण कल्याण के लिये सब प्रकार का क्लेश सहने और त्याग करने को पाण्डव सदा ही प्रस्तुत थे। उन्होने कृष्ण को अपने जीवन के सभी विभागों में नेता रूप से वरण कर लिया था और वे कृष्ण के जीवन व्रत को सफल बनाने के लिये अपनी जीवन तक का उत्सर्ग करने को उत्सुक थे। महाभारत के संगठन लिये सूक्ष्मदर्शी कृष्ण ने क्रेन्द्रिय राज शक्ति को धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा परिचालित न्याय दण्डधारी अमिट पराक्रमी पाण्डवों के हाथों में सौपना आवश्यक समझा था। न्याय और धर्म की दृष्टि में पाण्डव ही कौरव राज्य के उत्तराधिकारी थे। स्वयं भांति-भांति के निग्रह, निर्यातन और लांछना सहकर जाति और समाज

---

1. *अक्षय कुमार बन्धोपाध्याय : महाभारत के महानायक, पृष्ठ-54*

के सभी निग्रहीत पीड़ित लांछित और पददलित जनसाधारण के प्रतिनिधि रूप में उन्होने न्याय और धर्म की प्रतिष्ठा और सब लोगों के कल्याण के लिये संग्राम करके प्रतिकूल शक्तियों के विनाश का नैतिक अधिकार प्राप्त कर लिया था। भारत के विभिन्न प्रदेशों में जो राजा और क्षत्रिय वीर पाण्डवों के गुणों पर मुग्ध, न्याय और धर्म के पक्षपाती थे और कृष्ण के महान् आदर्श के प्रेमी थे, वे प्रेम और सहानुभूति के साथ शक्ति को लेकर उनके साथ आ मिले। एक भाग कृष्ण के पक्ष में महाराष्ट्र महासमाज, महाधर्म और महाभारत संगठन का पक्ष करता था, एक एक्य मिलन का पक्षपाती था तो दूसरा उस नवीन आदर्श के पक्ष में बाधा खड़ी करने के पक्ष में था। श्री कृष्ण ने अपने वंशजो में वीर्य, शौर्य जगाकर और उनमें वीरोचित शिक्षा देकर दुर्धष क्षात्र शक्ति का सृजन किया। उन्हें समुन्नत धर्म, ज्ञान और वीरोचित शिक्षा-दीक्षा प्रदान कर कृष्ण ने एक विराट नारायणी सेना का संगठन किया। इन सब शक्तियों का उचित रूप से संचालन करके महानायक कृष्ण ने महाभारत संगठन की विरोधी शक्तियों को प्रयोजनानुसार कठोरता के साथ कुचल डालने को तैयार ही गये । कृष्ण की वाणी से जितना ही प्रचार होने लगा, उनका संगठन कार्य उतना ही अग्रसर होने लगा, संघर्ष के कारण भी उतने ही बढ़ने लगे, आसुरी शक्तियां उनको और उनके आदर्श को मटियामेट करने के लिये संघ बद्ध होने लगीं, विप्लव का दावानल अधिक से अधिक जल उठा। सामदाम भेद और दण्ड सभी नीतियों को अपना कर ज्ञार्नाजन की सहायता से कृष्ण ने अनेकों विरोधी शक्तियों का दमन किया था। बहुत से शत्रुओं को मित्र बना लिया था। अनेकों प्रतिकूलाचारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय और अनार्य वीरों को अपने आदर्श का प्रेमी बनाने में सफलता, अनेक परस्पर प्रतिद्वन्दी राजशक्तियों को विवाह सूत्र में बांधकर सामाजिक मैत्री की स्थापना की थी। उन्होने स्वयं भी आर्य-अनार्य, मित्र और शत्रु अनेक वंशें में विवाह करके सब में प्रेम की प्रतिष्ठा की थी। कृष्ण के परामर्शानुसार से युद्ध को बचाने के लिये धर्मराज युधिष्ठिर ने दर्योधन से पांच गांव, पांच भाइयों के लिये मांगे और सन्तुष्ठ होना चाहते थे । स्वयं कृष्ण दूत बनकर शान्ति

स्थापना का प्रयत्न करने गये। बाल्यावस्था से लेकर अब तक दुर्योधन और उसके पक्ष वालों ने पाण्डवों पर जो अत्याचार किये थे उन सभी को क्षमा करने के लिये तैयार होकर कृष्णाश्रित पाण्डवों ने महामानवों का आदर्श प्रस्तुत किया। भीम को विष देकर मार डालने की चेष्टा, कुन्ती समेत पांचो पाण्डवों को लाक्षागृह में जला डालने का षड़यन्त्र, कपट जुये में धन, मान, राज्य, सुत का अपहरण-यहां तक कि राजदरबार में असंख्य राजाओं के सामने राजकुल बधू एकवस्त्रा वीरांगना द्रोपदी के केश खींचकर उसे नग्न करने की चेष्टा-इन सभी अत्याचारों को देश में एकता, शान्ति और प्रेम की प्रतिष्ठा के लिये कृष्णानुकाम महावीर पाण्डव भुला देने के लिये राजी हो गये। काल प्रभाव और भगवान के विधान से जब आंसुरी प्रभाव से मानवात्मा की मुक्ति का समय आता है तब आसुरी शक्ति का नाश करने के लिये महासमर अनिवार्य रूप से सम्पन्न होता है। इस महासमर में परस्पर प्रतिद्वन्दता किसी पक्ष विशेष का जय-पराजय उनका लक्ष्य नहीं था। एक असुर संघ को पराजित और निग्रहीत करके दूसरा एक असुर संघ मर्यादा और प्रभुत्व के आसन पर अरूढ़ हो। वे चाहते थे मानव समाज में अधर्म का पराभव और धर्म का अभ्युदय। वे चाहते थे मानव जाति में सप्रेम ऐक्य प्रतिष्ठा, साम्य, मंत्री, पवित्रता और आनन्द की प्रतिष्ठा और वे चाहते थे विश्व जगत सत्यं-शिवम्-सुन्दरम् की संस्थापना ।

समकालीन सामाजिक तथा लौकिक परिस्थितियों के प्रति भी वे पूर्णतया जागरूक थे। उन्होने पतनोन्मुख समाज को उदबोधन दिया। स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों के मिटते हुये अधिकारों का बल पूर्वक प्रतिपादन एवं समर्थन किया। मुमूर्त अवस्था को प्राप्त वर्ण-व्यवस्था के पुनरुद्धार की और उनका ध्यान गया। वे गुण-कर्माश्रित वर्ण व्यवस्था में उत्पन्न शिथिलता, विकृति और अव्यवस्था को दूर करने के लिये प्रयत्नशील हुये।

कृष्ण अनुदारता, गतानुगतिता तथा रूढ़िवादिता के वे प्रबल विरोधी थे। उनकी सामाजिक धारणायें उदारतापूर्ण तथा नीतियुक्त थीं। उन्होने सदा दलित, पीड़ित एवं शोषित

वर्ग का ही साथ दिया। विदुर जैसे धर्मात्मा उनके सम्मान के पात्र रहे। नारीवर्ग के प्रति उनकी महती श्रद्धा थी। कुन्ती, गांधारी, देवकी आदि पूजनीय गरीयसी महिलाओं के प्रति उनके मन में सदा आदर, सम्मान तथा श्रद्धा का भाव रहा।

नागर सभ्यता से दूर रहकर ग्रामीण संस्कृति में उनका शैशव काल व्यतीत हुआ, अतः समाज के पिछड़े, अभिशप्त एवं विभिन्न ताप-शाप-प्रतीड़ित जन-समाज के प्रति उनके हृदय में अशेष सहानुभूति थी। राजाओं का अतिथ्य अस्वीकार कर दासी-पुत्र विदुर के घर का भोजन स्वीकार करना कृष्ण के क्रान्तिकारी समाजवादी व्यक्तित्व का अद्भुत उदाहरण है।

वस्तुतः बाल युवा व प्रौढ़ नेता के रूप में कृष्ण के राजनैतिक विचार एक ही बौद्धिक धरातल पर टिके रहे जो व्यवहारिकता की कसौटी पर खरे उतरते रहे। न्याय और सत्य के लिय संघर्ष का उनका विचार युवा और प्रौढ़ावस्था में विकसित होकर इतना अधिक व्यापक बन गया कि उसके लिये कृष्ण हर प्रकार के बलिदान को भी तुच्छ मानने लगे।

मनुष्य अपनी विविध प्रवृत्तियों को उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर पहुँचाकर किस प्रकार का एक साधारण व्यक्ति से महामानव एवं युग पुरूष के उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है, इसका श्रेष्ठ उदाहरण कृष्ण का जीवन है। कारागार की विविशता पूर्ण परिस्थितियों में जन्म लेकर भी कोई मनुष्य संसार का महत्तम नेता बन सकता है, यह कृष्ण का चरित्र देखने से स्वतः ही विदित हो जाता है। कृष्ण ने अपनी ज्ञानांजनी, कार्यकारिणी तथा लोकरंजनी तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था, तभी उनके लिये यह सम्भव हो सका कि वे अपने समय के महान राजनीतिज्ञ और समाज-व्यवस्थापक के गौरवान्वित पद पर आसीन हो सके। राम स्वयं आदर्श राजा थे, किन्तु कृष्ण को आदर्श राज्य-संस्थापन का कार्य स्वयं करना पड़ा। कृष्ण राजाओं के निर्माता, परन्तु स्वयं राजसत्ता से दूर रहने वाले

साम्राज्य-संस्थापक थे। राम के समक्ष वैसी कठिनाइयों नहीं आई, जिनसे कृष्ण को जूझाना पड़ा जीवन की इन विविधता पूर्ण एवं सर्वांगीण प्रवृत्तियों का समन्वित अनुशीलन एवं परिष्कार ही कृष्ण की विशिष्टता है। यही कारण है कि कृष्ण जैसे व्यक्ति इस देश में ही नहीं अपितु संसार में भी कदाचित् ही जन्मा हो। महाभारत के कृष्ण आर्य-मर्यादाओं के संरक्षक, संयमी, उदात्त, चरित्रयुक्त, महान सत्त्व-सम्पन्न मानव हैं।

संसार के महापुरुषों पर दृष्टिपात करने से विवादित होता है प्रत्येक में कोई न कोई वैशिष्ट्य होता है। उनमें कोई धर्म संस्कारक है तो कोई स्वराज्य-स्त्रष्टा, कोई परम निःस्पृह परिव्राट् है तो कोई विलक्षण राजनीतिज्ञ, परन्तु कोई ऐसा महामानव दृष्टिगोचर नहीं होता जिसमें इन विभिन्न आदर्शों की एक साथ परिणिति हुई हो। भारत की पुण्यभूमि मे द्वापर और कलि की संधि-बेला में जन्म लेने वाले अकेले कृष्ण वासुदेव ही ऐसे पुरूष हैं जिनमें लोकादर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा आर्य-चरित्र की चरम-उत्कर्षता दिखायी पड़ी। अतः यदि विश्व के महान विभूति-सम्पन्न पुरूषों का उन्हें मूर्धन्य कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

परिशिष्ट

॥ ग्रन्थ सूची ॥

परिशिष्ट

।। मूल ग्रन्थ सूची ।।

वैदिक संहिता साहित्य :

1. ऋग्वेद संहिता मूल (हिन्दी अनुवाद सहित) जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।
2. सामवेद संहिता मूल (हिन्दी अनुवाद साहित) जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।
3. अथर्ववेद संहिता, सायणाचार्य भाष्य, मुम्बई ।
4. यजुर्वेद संहिता, शुक्ल मूल (हिन्दी अनुवाद सहित) जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।

धर्मशास्त्र (स्मृति ग्रन्थ) :

1. मानवधर्म शास्त्र (मनुस्मृति), मन्वर्थमुक्तावली सहित) कुल्लूक भट्ट पं० हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, मेधातिथयादि षट्टीका गणपति कृष्ण जी प्रेस, बम्बई, डॉ० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान बरेली, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
2. बृहस्पतिस्मृति, के०वी०आर० आर्यगर, गायकवाड़, ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा।
3. नारदस्मृति, जौली, कलकत्ता ।
4. याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा एवं बालम्भट्टी टीकायें), चौखम्बा संस्कृत, सीरीज, वाराणसी ।

पुराण ग्रन्थ :

1. अग्नि पुराण, श्री राम शर्मा, बरेली खेमराज श्रीकृष्ण दास बम्बई ।
2. मत्स्य पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ।
3. मार्कण्डयपुराण, श्रीराम शर्मा, बरेली, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
4. विष्णु पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
5. ब्रह्म पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

अर्थशास्त्र :

1. कौटिलीयम् - अर्थशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्या सहित) वाचस्पति शास्त्री गरोला, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी (1962) ।

2. कौटलीय अर्थशास्त्र (तीन खण्ड, हिन्दी व्याख्या सहित), उदयवीर शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नई दिल्ली।

3. कौटिलीय अर्थशास्त्र, आर० शामशास्त्री, मैसूर (1960) ।

नीति-शास्त्र :

1. कामन्दकीय नीतिसार (कामन्दक नीति), ज्वाला प्रसाद मिश्र, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई गणपति शास्त्री बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

2. शुक्रनीतिसार (शुक्रनीति), जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता, प्रथम संस्करण । हिन्दी टीका-पं० मिहिरचन्द्र, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई संवत् (2012) । पं० गंगाप्रसाद शास्त्री, हिन्दू जगत् कार्यालय, शामली मुजफ्फर नगर ।

रामायण एवं महाभारत :

1. रामायण : (बालमीकि), रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् (2025) ।

2. महाभारत : 12 शान्ति पर्व, दो जिल्दों में, सम्पादक, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, जिला-सूरत ।

3. महाभारत : शरद्चन्द्र सोम, कलकत्ता ।

4. महाभारत : पी०पी०एस० शास्त्री, मद्रास ।

5. श्रीमन्महाभारत् : नीलकण्ठ भाष्य सहित चित्रकला मुद्राणालय, पूना ।

6. महाभारत : सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार -भाषान्तरकार पण्डित श्रीराम नारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम' (गीता प्रेस, गोरखपुर)

वर्ष 1 कार्तक 2012 नवम्बर, 1955 संख्या 1, पृष्ठ संख्या 1 ।

मार्गशीर्ष, 1012, दिसम्बर 1955, संख्या 2, पृष्ठ संख्या 2 ।

पौष्य, 2012 जनवरी, 1956, संख्या 3, पृष्ठ संख्या 3 ।

माघ, 1012 फरवरी, 1956, संख्या 4, पृष्ठ संख्या 4 ।

श्रावण, 2014, अगस्त, 1957, संख्या 10, पृष्ठ संख्या 22 ।

भाद्रपद, 2014, सितम्बर, 1957, संख्या 11, पृष्ठ संख्या 23 ।

आश्विन, 2014, नवम्बर, 1957, संख्या 12, पृष्ठ संख्या 24 ।

कार्तिक, 2014, नवम्बर, 1957, संख्या 13, पृष्ठ संख्या 25 ।

मार्घशीर्ष, 2014, दिसम्बर 1957, संख्या 2, पृष्ठ संख्या 26 ।

पौष, 2014 जनवरी 1985, संख्या 3, पृष्ठ संख्या 27 ।

श्रावण, 2015, अगस्त 1985, संख्या 10, पृष्ठ संख्या 34 ।

भाद्रवद, 2015, अगस्त 1985, संख्या 10, पृष्ठ संख्या 34 ।

7. श्री मन्महाभारतम् - अंग्रेजी अनुवाद पी0सी0रे0, कलकत्ता ।

8. श्री मन्महाभारतम् - हिन्दी अनुवाद सहित गंगा प्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशक मण्डल, दिल्ली।

9. महाभारत - मण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, इन्स्टीट्यूट पूना ।

आदिपर्व0 : सं0 पी0एस0 सुकथनकर 1927-1933 ।

शान्ति पर्व : सं0 - एस0के0 वेलबलकर 1949-54 ।

10. महाभारत - चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा

11. श्रीमद्भागवतभाषाटीका - सम्पादक श्री दौलतराम गौड़, टीकाकार पं0 विद्याधर शास्त्री

कोष-ग्रन्थ :

1. अमरकोश (अमर सिंह), सतीशचन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता (1901), खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई।

2. प्रामाणिक हिन्दी कोष, रामचन्द्र वर्मा, बनारस (संवत् 2007) ।

3. संस्कृत : हिन्दी कोष, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली-7 ।

।। सहायक ग्रन्थ सूची ।।

हिन्दी भाषा के ग्रन्थ :

1. डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल - पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी (1955) ।

2. हरिदत्त वेदालंकार - प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास ।

3. सूरजमल मोहता - भागवत कथा।

4. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार - प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र, सरस्वती सदन मसूरी 1960।

5. वृन्दावनदास - प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य ।

6. डॉ० रामजी उपाध्याय - प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 (1966) शोध ग्रन्थ ।

7. डॉ० बुद्ध प्रकाश - भारतीय धर्म एवं संस्कृति

8. डॉ० श्यामलाल पाण्डेय - मनु का राजधर्म, आर्य नगर, लखनऊ ।

9. डॉ० स्नेहलता शर्मा - महाभारत में राज्य - सिद्धान्त ।

10. रामलखन शर्मा - हमारा अतीत ।

11. परितोष कुमार सिकंदार - प्राचीन भारत एवं अरब ।

12. डॉ० सुधा चतुर्वेदी - हिन्दी कृष्ण काव्य ।

13. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार - भारत का प्राचीन इतिहास ।

14. बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा मन्दिर, काशी (1985) ।

15. डॉ० श्यामलाल पाण्डेय - शुक्र की राजनीति, प्रेम पब्लिशर्स, लखनऊ (1952) ।

16. एम० विन्टर निट्ज - प्राचीन भारतीय साहित्य प्रथम भाग, अनु० डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

17. शिवदत्त ज्ञानी - भारतीय संस्कृति, बम्बई 1943 ।

18. शकुन्तला रानी तिवारी - महाभारत में धर्म, पाटल प्रकाशन, आगरा (1973) ।

19. चिन्तामणि विनायक वैद्य - महाभारत : मीमांसा ।

20. देवीदत्त शुक्ल - महाभारत मीमांसा ।

21. राधाकृष्ण चौधरी - प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था ।

22. डॉ० देवीदत्त शुक्ल - प्राचीन भारत में जनतन्त्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ (1966) ।

23. डॉ० सुमेधा विद्यालंकार - महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन ।

24. डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी - प्राचीन भारत का इतिहास ।

25. चैनिंग आरनोल्ड - महाभारत ।

26. डॉ० राजबली पाण्डेय - प्राचीन भारत हिन्दू काल ।

27. डॉ० बी०एन० लूनिया - भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास ।

28. डॉ० रघुवीर शास्त्री - महाभारत कालीन राज्य व्यवस्था

29. डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र - महाभारत में लोक-कल्याण की राजकीय योजनायें, भारत मनीषा, वाराणसी, (1972) ।

30. आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री - महाभारत में पंचायती राज्य ।

31. श्यामलाल पाण्डेय - भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ (1964) ।

32. प्रेम कुमारी दीक्षित - महाभारत में राज्य व्यवस्था, अर्चना प्रकाशन, लाल बाग, लखनऊ (1970)।

33. विजय बहादुर राव - उत्तर वैदिक समाज और संस्कृति ।

34. प्राणनाथ वानप्रस्थी - सरल महाभारत ।

35. लक्ष्मण नारायण गर्दे - सरल गीता ।

36. बालकृष्ण पाण्डुरंग ढकार - हिन्दी महाभारत मीमांसा ।

37. राजबहादुर जी - हिन्दी महाभारत मीमांसा ।

38. राधाकुमुद मुखर्जी - हिन्दू सभ्यता ।

39. डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी - प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास ।

40. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी - हिन्दू राजशास्त्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (संवत् 1998) ।

41. डॉ० सुशील माधव पाठक - विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास ।

42. श्यामलाल पाण्डेय - जनतंत्र वाद, (रामायण और महाभारत कालीन), अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ ।

43. राधाकृष्ण चौधरी - प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास ।

44. सुख सम्पतराम भण्डारी - भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव ।

45. नलिन विमोचन शर्मा - साहित्य का इतिहास दर्शन ।

46. सूर्यकान्त त्रिपाठी - महाभारत ।

47. डॉ० भवानी लाल भारतीय - कृष्ण चरित्र ।

48. वाचस्पति गरौला - संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी (1960) ।

49. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी - हिन्दुओं की राज्य-कल्पना, नं० 97 मुलाराम बाबू स्ट्रीट, भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता, (संवत् 1970) ।

50. डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी - हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली (1957) ।

51. के०एम० पाणिकर - हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1956)।

52. विनायक दमोदर सावरकर, हिन्दुत्व, राजधानी ग्रन्थागार, लाजपत नगर, नई दिल्ली-24 ।

53. डॉ० कृष्ण दत्त बाजपेयी - उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास ।

54. के०एम० पनिकर, कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

55. डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास (पाँच भाग) अनु० अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ (1973) ।

56. डॉ० ए०एस० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद (1970) ।

57. रमेशचन्द्र मजूमदार - प्राचीन भारत अनु० परमेश्वरी लाल गुप्त, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी (1962) ।

58. डॉ० सर्वपल्लि राधाकृष्णन - हिन्दुओं का जीवन दर्शन ।

59. रांगेय राघव - प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास ।

60. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक - श्रीमद्भगवतगीता रहस्य ।

61. भगवत शरण उपाध्याय - प्राचीन भारत का इतिहास ।

62. डॉ० श्यामलाल पाण्डेय, वैदकालीन राज्य व्यवस्था हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ (1971) ।

63. डॉ० सरोजनी कुलश्रेष्ठ - हिन्दी साहित्य में कृष्ण ।

64. प्राणनाथ वानप्रस्थी - श्रीकृष्ण

65. गुरुदत्त - इतिहास में भारतीय परम्परायें ।

66. नानाभाई भट्ट - श्रीकृष्ण ।

67. डॉ० हर गुलाल - मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति

68. जगन्नाथ प्रसाद - कृष्ण चरित्र ।

69. सत्य नारायण पाण्डेय - कृष्ण काव्य की परम्परा ।

70. कैलाश चन्द्र जैन - प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें ।

71. हरिदत्त वेदालंकार - अन्तर्राष्ट्रीय कानून ।

72. हरिभाऊ उपाध्याय - भागवत धर्म ।

73. पं० जवाहर लाल नेहरू - हिन्दुस्तान की कहानी ।

74. डॉ० रतिभान सिंह नाहर - प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास ।

75. अक्षय कुमार बन्धोपाध्याय - महाभारत के महानायक ।

76. डॉ० गोवर्धन भट्ट - भारतीय दर्शन की रूपरेखा ।

77. कि०घ० मशरूवाला - राम और कृष्ण ।

78. डॉ० हरवंशलाल शर्मा - भागवत दर्शन ।

79. घनश्याम दास जालौन - श्रीकृष्ण ।

80. के० मित्रा - सचित्र भागवत ।

81. डी०डी० कौशाम्बी - प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता ।

82. डॉ० जगदीश गुप्ता - कृष्ण भक्ति काव्य ।

आंग्ल भाषा के ग्रन्थ :

1- F. Max Mullar - A History of ancient sanskrit literature, paniai office, Allahabad (1912).

2- U.H. Ghoshal - A History of Hindu political theories, Calcutta (1923).

3- N.N. Law - Studies in ancient polity, Longmans Green & Co.

4- Ajit Kumar Sen - studies in Hindu political theories, Calcutta (1926).

5- V.P. Vema - sudies in Hindu Political thought and its metanhysical foundation, Motilal Banarsidas, Delhi (1959).

6- Km. Panikkar - The origin and evolution of kingship in India, Baroda (1938).

7- J.J. Anjaria. The nature and grounds of political obligation in Hindu state, longmans greens company, London (1935).

8- John Neville figgis - The divine right of kings, Cambridge (1914).

9- V.R.R. Dikshitar - The gupta polity, Madras (1952).

10- K.M. Panikkar - The idea of sovereighty and state in ancient, India (1963).

11- Bhagawandas - The law of Manu (or the since of social organisation - Vol. II), The Theosophical publishing house, Adyar, Madras (1939)

12- Dr. B.A. Saletore - ancient India Political thought and institution, Asia publighing house, New Delhi 1963).

13- Narendranath Law - aspect of ancient India polity, Oxford (1921).

14- R.S. Sharma - AAspect of political idea and institution in ancient India, Delhi (1966).

15- G.H. Sabine - A history of theory, London (1966).

16- Macdonell Arthur A - Ahistory of Sanskrit literature (Second edition) Delhi (1971).

17- P.V. Kane - History of Dharmshastra (Svols) Bhandarkar oriental research institute, Poona.

18- P.N. Prabhu - Hindu social Organisation, Bombay (1958).

19- K.P. Jayaswal - Hindu polity, Banglore (1943).

20- F. Maxmullar - Heritage of India, Calcutta (1951).

21- Ernest Barker - Greek political theory, plato and his predecessors (second edition), London (1925).

22- A.S. Altekar - Education in ancient India, Banaras (1943).

23- H.N. Sinha - Development of India Polity, Bombay (1963).

24- N.C. Bandyopadhya - Development of Hindu polity and political theories, Calcutta (1927).

25- R.C. Majumdar - Carporate life in ancient India, Calcutta (1922).

26- R.K. Mookerji - Chandragupta maurya and his times, Rajkamal publications, Delhi (1953).

27- B.K. Sarkar - Political Institution and theories of the Hindu's, Calcutta (1939).

28- L.N. Dey - Geographycal Dictionary of Ancient And Medival India.

29- M.P.A. Parcell - Modern welfare state, London (1953).

30- U.R.R. Dikshitar - Mauryan polity, Madras (1931).

31- Govind Krishan Pillay - Traditional History of India.

32- R.K. Mookerji - Local self government in ancient India, Motilal Banarsidass, Delhi (1948).

33- Allan H. Gilbert - Machiavell's prince and its Forerunners, North Carolina (1938).

34- Dr. A.S. Altekar - state and Government in ancient India, potilal Banarsidas, Delhi-6 (1958).

35- H.N. Sinha - Sovereignty in ancient India polity, London (1938).

36- K.V.R. Aiyangar - Some aspect of Hindu view of life, Baroda (1952).

37- K.V.R. Aiyangar - Some aspect of ancient India polity, Madras (1935).

38- Dr. Bhandarkar - Some aspect of ancient Hindu polity, Banaras (1929).

39- Purnendu Narayan Sinha - A study of the Bhagavata Puran.

40- Dr. Geeta Upadhyaya - Political thoughts in Sanskrit Kavyas Chaukhambha, Banaras (1979).

41- Beni Prasad - The state in Ancient India, The indian press ltd. Allahabad (1928).

42- F.E. Pargiter - Ancient historical tradition, Delhi 91962).

43- V.S. Sukthankar - On the meanings of Mahabharata, asiatic society of Bombay (1957).

44- Pramathnath Mullick - Mahabharata : A ciritical Study, Clacutta.

45- Rangaswami Ayangar - Raj a Dharma.

46- A.K. Sen - Studies in Ancient Indian Political thought, Calcutta (1926).

47- U.N. Ghosal - The history of Indian political idea, Oxford (1966).

48- S.P. Gupta - Mahabharata : Myth and reality, Delhi (1976).

49. C. Rajgopalachari - Mahabharata, Bombay (1953).

50- Rice Edwerd P. - Mahabharata, Oxford University Press (1934).

51- N.V. Thadani - Mysteries of Mahabharata, Karachi (1931).

52- Dr. Chaturvedi Sahai - The Politics and Philosophy of Lord Krishna.

53- Rais - The Mahabharata : Analysis and index, Oxford University Press (1934).

54- C.v. Vaidya - The Mahabharata A criticism Meharchandra Laxmandas, Delhi-6 (1905).

55- G.C. Agrawal - Age of Bharat war, Delhi (1979).

56- Paul Massan - Ancient India and Civilization.

57- K.S. Ramchandran - Mahabharat : Myth and Reality Difference.

पत्रिकायें :

1- Journal of the U.P. historical society - Kosha in Smrities - Dr. R.K. Dixit, New

series, Vol 5, Part 1, 1957, Lucknow.

2- India Today (Fortnightly Magazine, Delhi).

-No Reason for Complacency - An interview with J.R.D. Tata - Vol. IX., No 21, Nov. 1-15. 1982.

3. प्रार्थना - (मासिक पत्रिका) सम्पादक - बृजभूषण लाल त्रिपाठी, अंक - 10, 18 दिसम्बर 1951।

4. कृष्ण संदेश (पत्रिका) - सम्पादक व्यथित हृदय ।

5. विश्व हिन्दू - सम्पादक - नारायण दास।

6. कल्याण - गीता प्रेस, गोरखपुर।

7. धर्मयुग - गीता जयंती अंक, 14 दिसम्बर 1975 ।